विवेक ज्योति

हिन्दी त्रैमासिक

रामकृष्ण मिशन
विवेकानन्द आश्रम
रायपुर

विवेक-ज्योति

श्रीरामकृष्ण-विवेकानन्द-भावधारा से अनुप्राणित

हिन्दी त्रैमासिक

जुलाई – अगस्त – सितम्बर

* १९७९ *

सम्पादक एवं प्रकाशक

स्वामी आत्मानन्द

व्यवस्थापक

ब्रह्मचारी शंकरचैतन्य

वार्षिक ५) | वर्ष १७ अंक ३ | एक प्रति १॥)

आजीवन सदस्यता शुल्क १००)

रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम

रायपुर ४९२००१ (म. प्र.)

दूरभाष : २४५८९

अनुक्रमणिका

—:०:—

कवर चित्र परिचय—स्वामी विवेकानन्द

मुद्रणस्थल : संजीव प्रिंटिंग प्रेस, नागपुर

"आत्मनो मोक्षार्थं जगद्धिताय च"

श्रीरामकृष्ण-विवेकानन्द-भावधारा से अनुप्राणित

हिन्दी त्रैमासिक

वर्ष १७] जुलाई – अगस्त – सितम्बर [अंक ३

★ १९७९ ★

महात्माओं का स्वभाव

अयं स्वभावः स्वत एव यत्पर-
श्रमापनोदप्रवणं महात्मनाम् ।
सुधांशुरेष स्वयमर्ककर्कश-
प्रभाभितप्तामवति क्षितिं किल ॥

––महात्माओं का यह स्वभाव ही है कि वे स्वतः ही दूसरों का श्रम दूर करने में प्रवृत्त होते हैं, जैसे सूर्य के प्रचण्ड तेज से सन्तप्त पृथ्वीतल को चन्द्रदेव स्वयं ही शान्त कर देते हैं।

—विवेकचूड़ामणि, ४०

अग्नि-मंत्र

(श्री आलासिंगा पेरुमल को लिखित)

अमेरिका
अगस्त १८९५

प्रिय आलासिंगा,

तुम्हारे पास इस पत्र के पहुँचने के पहले ही मैं पेरिस पहुँच जाऊँगा।...इसलिए कलकत्ता तथा खेतड़ी में यह लिख देना कि इस समय वे अमेरिका के पते पर मुझे कोई पत्र न डालें। अगले जाड़े में ही फिर मुझे न्यूयार्क वापस आना है। अतः कोई विशेष आवश्यक विषय हो, तो १९ पश्चिम ३८ वाँ रास्ता, न्यूयार्क---इस पते मुझे सूचित करना। इस वर्ष मैंने बहुत कुछ कार्य किया है तथा आशा है कि अगले वर्ष और भी कार्य कर सकूँगा। मिशनरियों के विषय को लेकर माथा-पच्ची न करना। उनका चिल्लाना अत्यन्त स्वाभाविक है। जब किसी की रोटी छीन ली जाती है, तो कौन नहीं चिल्लाता ? गत दो वर्षों में उनकी पूँजी में काफी अन्तर पड़ चुका है और क्रमशः बढ़ता ही जा रहा है। अस्तु, मैं मिशनरियों की पूर्ण सफलता चाहता हूँ। बच्चो, जब तक तुम लोगों को भगवान् तथा गुरु में, भक्ति तथा सत्य में विश्वास रहेगा, तब तक कोई भी तुम्हें नुकसान नहीं पहुँचा सकता। किन्तु इनमें से एक के भी नष्ट हो जाने पर परिणाम विपत्तिजनक है। तुम्हारा यह

कहना ठीक है कि भारत की अपेक्षा पाश्चात्य देशों में मेरे भाव अधिक मात्रा में कार्य में परिणत होते जा रहे हैं।...वास्तव में भारत ने मेरे लिए जो कुछ किया है, उससे कहीं अधिक मैंने भारत के लिए किया है। वहाँ तो मुझे रोटी के एक टुकड़े के साथ डलाभरी गालियाँ मिली हैं। सत्य में मेरा विश्वास है, चाहे मैं कहीं भी क्यों न जाऊँ, प्रभु मेरे लिए काम करनेवालों के दल के दल भेज देते हैं। वे लोग भारतीय शिष्यों की तरह नहीं हैं, अपने गुरु के लिए वे प्राणों तक की बाजी लगा देने को प्रस्तुत हैं। सत्य ही मेरा ईश्वर है तथा समग्र विश्व मेरा देश है। 'कर्तव्य' में मैं विश्वासी नहीं हूँ, कर्तव्य तो संसारियों के लिए एक अभिशाप है, संन्यासियों का कोई कर्तव्य नहीं है। कर्तव्य तो एक व्यर्थ की बकवास है। मैं मुक्त हूँ--मेरे सारे बन्धन कट चुके हैं। यह शरीर कहीं भी रहे या न रहे, इसकी मुझे क्या परवाह! तुम लोगों ने बराबर मेरी ठीक ठीक सहायता की है--प्रभु तुम्हें इसका पुरस्कार अवश्य देंगे। मैंने भारत या अमेरिका से कभी अपनी प्रशंसा नहीं चाही और न खोखली चीजों के लिए अब भी लालायित हूँ। मैं भगवान् की सन्तान हूँ और मुझे सत्य की शिक्षा देनी है। जिसने मुझे इस सत्य की प्राप्ति करायी है, वही मेरे लिए पृथ्वी के सर्वश्रेष्ठ तथा शक्तिशाली सहायक भेजेगा। पाश्चात्य देश में प्रभु क्या करना चाहते हैं,

यह तुम हिन्दुओं को कुछ ही वर्षों में देखने को मिलेगा। तुम लोग प्राचीन काल के यहूदियों जैसे हो और तुम्हारी स्थिति नाँद में लेटे हुए कुत्ते की तरह है, जो न खुद खाता है और न दूसरों को ही खाने देना चाहता है। तुम लोगों में किसी प्रकार की धार्मिक भावना नहीं है, रसोई ही तुम्हारा ईश्वर है तथा हँड़िया-बरतन हैं तुम्हारा शास्त्र। अपनी तरह असंख्य सन्तानोत्पादन में ही तुम्हारी शक्ति का परिचय मिलता है। तुममें से कुछ एक बालक साहसी अवश्य हैं--किन्तु कभी कभी मुझे ऐसा प्रतीत होता है कि तुम भी अविश्वासी बनते जा रहे हो। बालको, दृढ़ बने रहो, मेरी सन्तानों में से कोई भी कायर न बने। तुम लोगों में जो सबसे अधिक साहसी है--सदा उसी का साथ करो। बिना विघ्न-बाधाओं के क्या कभी कोई महान् कार्य हो सकता है? समय, धैर्य तथा अदम्य इच्छा-शक्ति से ही कार्य हुआ करता है। मैं तुम लोगों को ऐसी बहुत सी बातें बतलाता, जिससे तुम्हारे हृदय उछल पड़ते, किन्तु मैं ऐसा नहीं करूँगा। मैं तो लोहे के सदृश दृढ़ इच्छा-शक्तिसम्पन्न हृदय चाहता हूँ, जो कभी कम्पित न हो। दृढ़ता के साथ लगे रहो, प्रभु तुम्हें आशीर्वाद दें। सदा शुभकामनाओं के साथ,

तुम्हारा,
विवेकानन्द

श्री माँ सारदा देवी के संस्मरण

स्वामी सारदेशानन्द

(गतांक से आगे)

धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष चतुर्वर्ग के नाम से प्रसिद्ध हैं। बचपन से ही हम लोगों को शिक्षा दी जाती है कि चतुर्वर्ग का लाभ ही मानव-जीवन का उद्देश्य है। साधारण मनुष्य इन शब्दों को सुनता तो है, पर उनके मर्म को कुछ भी नहीं समझ पाता। वह मन ही मन सोचता है कि सुख और शान्ति से जीवन बिताना ही जीवन का उद्देश्य है और इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए उसकी सारी चेष्टाएँ और उद्यम होते हैं। माता-पिता बचपन से ही अपने बेटे-बेटियों को शिक्षा देते हैं कि किस प्रकार रहने से वे लोग सुख और शान्ति से रह सकेंगे। किन्तु अफसोस! कितने लोग सुख और शान्ति से जीवन बिता पाते हैं? संसार में अनेक विद्वान्, बुद्धिमान्, महान् लोग देखे जाते हैं, वे भी लोगों को सुख-शान्ति प्राप्त करने के लिए विभिन्न मार्गों का निर्देश देते हैं, किन्तु दुर्भाग्यवश साधारण मनुष्य उनके उपदेशों को पूरी तरह कार्य में परिणत करने में अक्षम होने के कारण सुख-शान्ति पाने से वंचित रह जाता है।

श्री माँ के पास भी बहुत से स्त्री-पुरुष आते थे। इसमें सन्देह नहीं कि वे सुख-शान्ति पाने की इच्छा से ही आते थे, और देखा जाता कि माँ भी उनके मनोभाव को पढ़कर उनकी मानसिक अवस्था

के अनुसार अलग अलग व्यवस्था करतीं। आध्यात्मिक राज्य में इसे गुरु-शिष्य-सम्बन्ध और दीक्षा-दान कहकर जाना जाता है। माँ का दीक्षा-दान भी विचित्र था। संसार में हम लोग बाह्य आडम्बर और ऐश्वर्य देखकर बड़े बड़े कार्यों का मापदण्ड स्थिर करते हैं, इसलिए दीक्षा का व्यापार भी साधारणत: समारोह का रूप ले लिया करता है। माँ के शिष्य-सन्तान भी यद्यपि पहले-पहल इस प्रकार का कुछ ऐश्वर्य का भाव ले दीक्षा के लिए अग्रसर होते, तथापि जिस समय उनके कानों में माँ के 'बेटा, आओ' ये स्नेहभरे शब्द प्रवेश करते, तो उनका सारा ऐश्वर्य-बोध लुप्त हो जाता और वे एक अननुभूत माधुर्य के राज्य में प्रविष्ट हो जाते। पथ से भटकी हुई दिग्भ्रमित सन्तान माँ को पा लेती और उसका सुख-शान्ति-लाभ का मार्ग प्रशस्त हो जाता। 'तुम माँ हो, मैं सन्तान हूँ'--ऐसा नित्य सम्बन्ध जान हृदय आनन्द से उत्फुल्ल हो उठता। फिर कहाँ रहे दुःख, कष्ट और त्रितापज्वाला! सन्तान उस क्षण मातृ-स्नेह के भीतर मे जिस अपार्थिव वस्तु का पता पाती, वह उसके जीवन-पथ का पाथेय बन जाती और सदा के लिए संचित हो जाती। प्रारब्ध कर्म संसार-समुद्र में उसे डुबकी खिला रहा था, प्राण अब-तब हो रहे थे, स्मृति विभ्रमित हो चुकी थी--लगता था कि अब कोई आशा नहीं। किन्तु जिस क्षण वह सुमधुर

स्नेहभरा स्वर तैरता हुआ आता--'बेटा, आओ', बस त्योंही प्राणों में शक्ति आ जाती और यह अभय-वाणी अन्तर में झंकृत हो उठती--"भय क्या? देखो, माँ जो हाथ बढ़ा रही है, अपनी गोद में उठा लेगी।"

माँ की माधुर्यघन मूर्ति में कहीं कोई आडम्बर न था। सन्तान को खिलौना देने, नहलाने, पहिनाने, खिलाने जैसा ही दीक्षा देना था। बड़ी सहज, सरल बात थी। माँ अपनी सन्तान को सिखा देतीं--भगवान् को किस नाम से पुकारना होगा, किस रूप में ध्यान करना होगा, वे अपने कौन होते हैं, उनके साथ अपना क्या सम्बन्ध है। बस, यही तो दीक्षा थी। माँ की अद्भुत दीक्षा-प्रणाली जिन्होंने देखी है, वे ही हमारी बात के मर्म को ठीक ठीक समझ सकते हैं।

सुनते हैं कि जब माँ वृन्दावन में थीं, तब श्री ठाकुर के आदेश पर उन्होंने योगीन महाराज (स्वामी योगानन्द) को सर्वप्रथम दीक्षा दी थी। इसके बाद से उनके कृपा-स्रोत ने प्रवाहित हो बहुतों को पावन किया था। श्रीरामकृष्ण के संन्यासी-शिष्यगण अपने पास आनेवाले प्रियजनों को तथा उसी प्रकार ठाकुर के पुराने गृहस्थ-भक्तगण भी अपने आत्मीय स्वजन और अनुगत लोगों को माँ के पास दीक्षा प्राप्त करने के लिए भेजते थे। एक दूसरे से सुनकर कुछ अन्य लोग भी माँ की कृपा पाकर धन्य हुए थे। दैवयोग से भी किसी किसी ने

उनकी कृपा पायी थी। हम यहाँ पर माँ के अन्तिम दिनों में घटी कुछ घटनाओं का उल्लेख करेंगे। साधारणत: नित्यपूजा के बाद माँ दीक्षार्थी को परम स्नेह से बुलाकर बैठालतीं, उससे सामान्य आचमन, श्री ठाकुर का स्मरण और आत्म-समर्पण करा, दीक्षा-सम्बन्धी दो-एक बातें पूछकर, मन्त्र प्रदान करतीं और गुरु-इष्ट की पहचान करा देतीं। उसके पश्चात् दीक्षार्थी की पूजा-दक्षिणा आदि ग्रहण कर शुभाशीर्वाद प्रदान करतीं। सामर्थ्यवान् शिष्य-सन्तान पुराने भक्तों के निर्देशानुसार माँ के लिए यथाशक्ति वस्त्र, फल मिष्टान्न इत्यादि लाते। जिसके अन्तर में जैसी साध होती, उसी के अनुसार वह व्यय आदि करता। इस विषय में माँ का कोई निर्देश नही होता। गरीब, असमर्थ सन्तानों को ज्यादा खर्च करने से वे मना करतीं। यही नहीं, बिना खर्च के भी दीक्षा होती। भक्ति, आत्मसमर्पण ही तो वास्तविक पूजा है, दक्षिणा है।

माँ के एक शिष्य-सन्तान शिक्षक हैं। वे अपने एक प्रिय छात्र को लेकर माँ के दर्शन के लिए आये हैं। छात्र की वय अधिक नहीं है, अभी किशोर है—यौवन की दहलीज पर पैर रख ही रहा है। स्वभाव-चरित्र अच्छा है, भक्तिमान् और सुशील है; मास्टर महाशय खूब स्नेह करते हैं, चेहरा भी सुन्दर है। माँ के दर्शन करने जाकर उसने माँ के कृपा की प्रार्थना की। माँ उसे देख सन्तुष्ट हुईं और उसकी आकांक्षा पूर्ण

करते हुए उसे दीक्षा प्रदान की। लड़के की उम्र कम देखकर हो अथवा अन्य किसी कारण से हो माँ दीक्षा के बाद उसे सम्बोधित कर बोली, "बेटा, तुम्हें नाम दिया है, भक्तिपूर्वक इसका जाप करना। अधिकार होने दो, बाद में बीज मिलेगा।" भक्तिमान् शिष्य ने कुछ काल के उपरान्त बीज मंत्र प्राप्त किया था। परवर्ती जीवन में क्रमशः ब्रह्मचर्य और संन्यासग्रहण के बाद उसने हिमालय में रहकर साधन-भजन किया था और इस प्रकार अपने मानव-जीवन को धन्य बना अन्त में मातृलोक को चिरप्रस्थान किया था।

जयरामवाटी से कुछ कोस दूर रहनेवाला निम्नजाति का एक युवक श्री माँ की महिमा सुन उनकी कृपा-लाभ करने का अत्यन्त इच्छुक था। उस समय सामाजिक विचार की दृष्टि से भले ही उच्च-वर्ण के सामने वह निम्न जाति का अछूत व्यक्ति था, पर उसका परिवार सम्भ्रन्त, सम्मानित और धनी था तथा उस अंचल में उसकी ख्याति थी। अनेक लोग उस युवक को विद्वान्, बुद्धिमान् एवं कर्मकुशल व्यक्ति के रूप में जानते थे। माँ के एक संन्यासी-सन्तान के साथ उसका परिचय था। उनके माध्यम से उसने अपनी आन्तरिक इच्छा माँ के श्री चरणों में निवेदित की। माँ उसकी आन्तरिक आकांक्षा और भक्तिभाव की बात जानकर प्रसन्न हुई और उन्होंने उस युवक की अभिलाषा पूर्ण करने की इच्छा प्रकट की। किन्तु

जयरामबाटी के लोगों को यह बात पता लगने पर एक विषम सामाजिक आन्दोलन के उठ खड़े होने की अथवा व्यर्थ के हो-हल्ले की सम्भावना थी। फिर एक डर यह भी था, इस ओर उस युवक के परिचित और विशेषत: उसके स्वजातीय लोग भी रहते थे। वे लोग सुनते ही छूटे चले आते और भीड़ इकट्ठी हो जाती। ऐसी विकट परिस्थिति में क्या किया जाय—— एक ओर भक्त की अभिलाषा का पूरण और दूसरी ओर समाज में प्रचलित परम्परा के विरुद्ध आचरण। समस्या जटिल थी। बहुत सोचने-विचारने के बाद माँ की अनुमति के अनुसार निश्चित हुआ कि युवक रात में आकर पास में किसी स्वजन के घर टिकेगा और भोर होते ही माँ के घर उपस्थित होगा। उसके परिचित साधु रात में माँ के यहाँ ही रहेंगे। सुबह युवक के आते ही उक्त संन्यासी उसे ले माँ के चरणों में उपस्थित होंगे और उसी समय माँ उस पर कृपा करेंगी। तदनुसार सारी व्यवस्था की गयी और निर्दिष्ट दिन भोर में युवक के आते ही माँ ने उस पर कृपा करते हुए दीक्षा प्रदान की। उसकी बहुत दिनों की साध पूरी हुई, जीवन सार्थक हुआ। किसी को कुछ पता ही न लगा। जिन दो-एक लोगों ने जाना भी, वे तो माँ की अद्भुत लीला सर्वदा ही देखते थे, इसलिए उनके सामने यह कोई विस्मय का विषय न था।

यद्यपि उस भक्त के मन में अपने जाति-कुल के

कारण संकोच-संशय था, किन्तु जब उसने माँ का अतीव स्नेहपूर्ण व्यवहार देखा और यह अनुभव किया कि उपस्थित अन्य सन्तानों की तरह ही उसे भी माँ ने बिना किसी भेद-भाव के स्वीकार कर लिया है, तो एक मुहूर्त में उसका सारा संकोच और संशय जाता रहा। उसका अन्तर आनन्द से भर उठा। माँ के हाथ से प्रसाद पा पूर्ण मनोरथ हो उसने उनकी पदधूलि ली और उनका स्नेहाशीर्वाद ग्रहण कर हर्ष-पूर्वक विदा ली।

एक पिता-माताहीन बालक बड़े दुःख-कष्टों में पलकर बड़ा हुआ था। दुर्भाग्यवश कम उम्र में ही किसी दुस्साध्य व्याधि के कारण वह विकलांग हो गया था। वह न अच्छी तरह चल पाता, न बोल पाता—उच्चारण अस्पष्ट निकलता, बोलने में जीभ अटक जाती। उच्चकुल में जन्म लेनेपर भी पढ़ाई विशेष नहीं हो पायी थी। किसी पूर्व संचित पुण्य के फल-स्वरूप एक भक्त से उसका परिचय हो गया। उसने श्री ठाकुर की बातें बतलाकर उसके अन्तर के भक्ति-भाव को वर्धित किया। कुछ समय के उपरान्त ठाकुरजी की पुण्य लीलास्थली दक्षिणेश्वर और उनके शिष्य-सन्तानों के दर्शन की आकांक्षा बलवती होने पर उसने प्रयत्नपूर्वक रास्ते के लिए व्यय जुटाया और सुदूर आसाम में स्थित अपने वास-स्थान को छोड़ कलकत्ते में आ उपस्थित हुआ। यहाँ उसकी भेंट

श्री माँ के कृपाप्राप्त दो-तीन जनों से हुई और उनके साथ वार्तालाप के प्रसंग में उसने माँ के अपार स्नेह की बात भी सुनी। कलकत्ता आनेपर उसे ज्ञात हुआ कि माँ उद्बोधन में हैं। माँ के दर्शन करने की आकांक्षा हृदय में प्रबल हो उठी। पर उस जैसे दुरवस्थापन्न व्यक्ति के लिए उद्बोधन में माँ के दर्शन पाना कठिन समस्या थी। फिर भी वह निराश नहीं हुआ और ठाकुर और माँ के चरणों में प्रार्थना करते हुए यथा-सम्भव प्रयास करने लगा। उसके शुभदिन आते देर न लगी, माँ के दर्शन की अनुमति प्राप्त हो गयी। माँ के चरणों के समीप पहुँच उसका हृदय भर आया। उसके हृदय की रुद्ध वेदना आज आँसू बन माँ के निकट फूट पड़ी। माँ से स्नेह और सान्त्वना पाते ही उसने अपने दुःख-दुर्भाग्य की कहानी किसी प्रकार अटकते हुए टूटे-फूटे स्वर में उनके समक्ष विगलित हृदय से निवेदित की। माँ ने उसकी दुःख-गाथा सुन उसके प्रति विशेष स्नेह व्यक्त किया। इससे उसे कुछ भरोसा हुआ और उसने दीक्षा पाने की अपने हृदय की अभिलाषा माँ के समक्ष प्रार्थना करते हुए निवेदित की। माँ प्रसन्नतापूर्वक राजी हो गयीं। यथासमय उसकी मनोकामना पूर्ण हुई और उसके दुःखी जीवन में सुख का संचार हुआ। धीरे धीरे उसके अन्तर और बाहर में समृद्धि दिखायी देने लगी। अच्छे दिन आये, उसकी दुश्चिन्ताएँ दूर हो गयीं। कृपामयी की कृपा

से खाने-पहिनने-रहने की समस्या तो रही ही नहीं, बल्कि अध्यात्म-राज्य में प्रवेश के लिए भी उसमें प्रबल आग्रह और साधन-भजन की निष्ठा दिखायी देने लगी। कालान्तर में क्रम से ब्रह्मचर्य और संन्यास ग्रहण कर उसका जीवन सार्थक हुआ।

माँ के एक और भक्त-सन्तान कुलगुरु से दीक्षा लेकर दीर्घकाल से साधन-भजन में रत थे, फिर भी शान्ति नहीं पा रहे थे। श्री ठाकुर के प्रति उनकी अगाध भक्ति और विश्वास था। ठाकुर के शिष्यों, विशेषकर श्री 'म' के साथ उनका विशेष परिचय था एवं श्री 'म' भी उनसे विशेष स्नेह करते थे। अनेक घात-प्रतिघातों ने उनका जीवन अस्तव्यस्त कर दिया था। अन्त में निरुपाय हो कष्ट उठाते हुए वे जयरामवाटी गय और माँ के चरणों में शरणापन्न हुए। जब माँ को पता चला कि उनकी दीक्षा हो चुकी है, तो वे पहले तो उन्हें दीक्षा देने के लिए राजी नहीं हुईं। पर बाद में उनके आग्रह और असहाय अवस्था की बात जान माँ ने कृपापूर्वक पुनः दीक्षा दी। माँ के दर्शन, कृपा और स्नेह पाकर उनका हृदय आनन्द से भर उठा। जयरामवाटी और कामारपुकुर में श्री ठाकुर के समय के लोगों से मिलकर और उनकी लीलाओं से जुड़े स्थलों के दर्शन कर वे विशेष पुलकित हुए। उनके जीवन में स्पष्ट परिवर्तन दिखलायी पड़ा—पहले वे कोई छोर न पा रहे थे, पर अब उन्हें

किनारा मिल गया। तब से निष्ठापूर्वक उन्होंने सुनिर्दिष्ट प्रणाली का अवलम्बन कर साधन-भजन शुरू किया और बाद में वे अध्यात्मराज्य में बहुत ऊँचे शिखर पर आरूढ़ हो गये। उनके जीवन और क्रिया-कलाप ने बहुतों के दुःखमय जीवन को सुख का पता दिया था।

यहाँ एक बात बतलाना आवश्यक है। कुलगुरु के निकट दीक्षा ग्रहण करने के बाद जो फिर से माँ के निकट दीक्षा प्राप्त करते, माँ उन्हें पूर्वगुरु के प्रति श्रद्धा बनाये रखने के लिए कहतीं और यह विशेष स्मरण रखने का निर्देश देतीं कि पूर्वगुरु का सम्मान बना रहे तथा उस सामाजिक परम्परा का लोप न हो, जिससे पूर्वगुरु दान-दक्षिणा-भेंट आदि से वंचित हो जायँ। जहाँ तक सम्भव होता, माँ सामाजिक नियम-आचार मानकर ही चलतीं तथा शास्त्रों और शास्त्रीय व्यवहारों के प्रति श्रद्धा प्रदर्शित करतीं। कुलगुरु, पुरोहित, पण्डे, ब्राह्मण, पण्डितों के प्रति सम्मानजनक व्यवहार तथा उन सबको यथारीति श्रद्धापूर्वक दक्षिणा-प्रणामी देना माँ के जीवन में सर्वदा दिखलायी पड़ता था।

(क्रमशः)

•

स्वामी ब्रह्मानन्द

स्वामी ज्ञानात्मानन्द

श्री ठाकुर के लीला-सहचरों में सर्वप्रथम श्री महाराज (स्वामी ब्रह्मानन्द) का स्मरण हो आता है। उनके दर्शन पहली बार कब हुए थे यह ठीक से याद नहीं। कुछ कुछ याद पड़ता है कि एक दिन अपने एक समवयस्क मित्र के साथ वराहनगर से नाव द्वारा गंगा पार करके बेलुड़ मठ गया था। सम्भवतः यह सन् १९१६ या १७ की घटना होगी।

साधु-दर्शन के लिए जाने पर कुछ फल या मिठाई साथ में ले जाना चाहिए ऐसा लोगों को कहते सुना था। इसलिए चार पैसे के दो डाब (कच्चा नारियल) खरीदकर हम लोग मठ पहुँचे थे। नाव से गंगा पार कर घाट पर चढ़ते समय देखा था कि गंगा की तरफवाले बरामदे में बेंच पर एक साधु बैठे हुए हैं और बहुत से अल्पवयस्क साधु उनको घेरे खड़े हैं। देखकर जाने क्यों मन में ऐसा लगा की यही स्वामी ब्रह्मानन्दजी होंगे। हम दोनों मित्रों ने उनके चरणों में डाब रखकर प्रणाम किया। प्रणाम करते ही उन्होंने उपस्थित एक साधु से कहा, "ये दोनों श्री ठाकुर के भोग के लिए दे आ।" हमें थोड़ा आश्चर्य हुआ, क्योंकि इसके पूर्व जब भी किसी साधु के लिए फल-मिठाई ले जाते, वे उसी समय पूछ लेते कि वह श्री ठाकुर के

लिए लाया गया है? किसी साधु या व्यक्तिविशेष के लिए ले जाने पर वह वस्तु श्री ठाकुर को निवेदित नहीं की जाती थी। पर आज इसका व्यतिक्रम देख हमारा विस्मित होना स्वाभाविक था। बाद में मालूम पड़ा था कि भगवान् श्रीरामकृष्णदेव और उनके मानसपुत्र श्रीमत् स्वामी ब्रह्मानन्दजी वस्तुतः अभिन्न सत्तावाले थे।

श्री महाराज के एक अन्य आचरण से मैं और भी विस्मित हुआ था। वे मेरे साथी से उसका नाम, घर और अन्यान्य परिचय विशेष दिलचस्पी से पूछने लगे। किन्तु मैं निकट खड़ा हुआ था फिर भी एक बार भी मेरी तरफ नजर उठाकर नहीं देखा। सहसा मेरी ओर अपने वही दिव्य नेत्रों को फिराकर वे बोल उठे, "तुझे तो जानता हूँ!" ऐसा कहकर वे फिर से मेरे उस मित्र के साथ अन्य बातें करने लगे। मैं तो अवाक् रह गया, क्योंकि आज ही मैंने उनके प्रथम दर्शन किये थे। मठ में जीवन अर्पित करने के पश्चात् जाना था कि भविष्य में जिनको वे कृपादान से धन्य करनेवाले होते, ऐसे किमी किसी सौभाग्यवान् व्यक्ति से उन्होंने इस प्रकार कहा था।

इसके पश्चात् २-३ वर्षों तक उनके साथ भेंट नहीं हुई। १९१९ के सितम्बर-अक्तूबर में जलवायु-परिवर्तन के लिए मैं काशीजी गया था। वहाँ अकस्मात् मेरे पूर्वपरिचित सहपाठी बन्धुओं (बाद में

वे स्वामी अखिलानन्द और स्वामो विश्वानन्द बने) के साथ दशाश्वमेध घाट में भेंट हो गयी। मैं ठहरा तो विश्वनाथजी और अन्नपूर्णाजी के मन्दिरों के समीप था, पर अभी तक उनके दर्शन करने नहीं गया था। किन्तु वे लोग, विशेषकर नीरद छोड़नेवाला जीव न था। अन्त में एक दिन वह मुझे श्रद्धेय हरि महाराज (स्वामी तुरीयानन्दजी) के निकट ले गया। उनका गाम्भीर्यपूर्ण चेहरा देख और सहानुभूतिपूर्ण बातें सुन मैं मुग्ध हो गया और मेरे अनजाने ही मेरे भीतर का प्रसुप्त धर्म-भाव जगने लगा। पहले बस इतना ही जानता था कि राजनीति के साथ थोड़ा धर्म रहना जरूरी है, जिससे मन और चरित्र की दृढ़ता बनी रहे।

धर्म के विषय में तब मैं अत्यन्त अनभिज्ञ और संशयवादी था। पाश्चात्य दर्शन पढ़कर मन में निश्चित धारणा बन गयी थी कि भगवान् का दर्शन कभी प्राप्त नहीं हो सकता, वह केवल युक्ति और तर्क का विषय है। बस, इतना ही मानता था कि उसका चिन्तन करने से मन में कुछ नैतिक शक्ति आ सकती है।

मन की ऐसी संशयग्रस्त अवस्था में पूज्यपाद हरि महाराज के दर्शन पाये थे। उनके अलौकिक आध्यात्मिक शक्ति के प्रभाव से मन का संशय धीरे धीरे मिटने लगा। लगने लगा कि भगवान् सिर्फ

युक्ति-तर्क के विषय नहीं हैं। उपयुक्त साधन-भजन के द्वारा उनको प्राप्त करना सम्भव है। उनका अनेकों ने दर्शन किया है। साधन-भजन और सद्गुरु की कृपा होने से हम लोग भी उनके दर्शन पा सकते हैं। पूज्यपाद हरि महाराज के पास मैंने एक दिन यह सब निवेदित किया और इसके लिए मन की आकुलता ज्ञापित की कि दीक्षा प्रदान कर इस पथ पर अग्रसर होने में वे मेरी सहायता करें। किन्तु गम्भीर होकर स्मित हास्य से सिर हिलाकर उन्होंने सिर्फ इतना कहा, "हम तो किसी को दीक्षा देते नहीं।" अत्यन्त विषण्ण और हताश हो मैं वहीं बैठा रह गया। मेरी अवस्था देख दूसरे ही क्षण उन्होंने कृपापूर्वक कहा, "तुमको एक ऐसे महापुरुष के पास भिजवाएँगे, जो हम सबकी अपेक्षा बहुत ऊँचे हैं।"

कुछेक महीने बीत गये। पढ़ाई पूरी करने की इच्छा (उस समय कलकत्ता विश्व-विद्यालय में पढ़ता था) मन से मिट गयी थी। फिर भी पूज्यपाद हरि महाराज के आदेश से पढ़ाई पूरी करने के लिए मैं कलकत्ता लौट गया और उन्हीं के निर्देश से एक दिन बागबाजार में स्थित बलराम-मन्दिर में जाकर मैंने श्री महाराज के दर्शन किये। देखा कि दुमंजिले पर जाने की सीढ़ी के पास के एक छोटे से कमरे में एक छोटे से तख्त पर श्री महाराज बैठे हैं। उनके सामने थोड़े से भक्त लोग उपविष्ट हैं। श्री महाराज को

प्रणाम कर मैं भी वहीं उन लोगों के पास बैठ गया। उस समय प्रथम विश्व-महायुद्ध चल रहा था। आश्चर्य से सुना कि यहाँ भी वही महायुद्ध की चर्चा हो रही है। उपस्थित भक्तों में से एक जर्मनी का पक्ष और दूसरा अँगरेजों का पक्ष लेते हुए अपने अपने पक्ष को विजयी बनाने के लिए उत्तेजित होकर तर्क कर कर रहे थे। श्री महाराज मानो इसका खूब मजा ले रहे थे। वे अपने छोटे हुक्के से धूम्रपान करते हुए कभी यह पक्ष तो कभी दूसरा पक्ष लेकर मृदु हास्य के साथ बहस में अपना योगदान कर रहे थे। मैं तो देखकर अवाक् था! स्तम्भित हो मैं सोचने लगा कि यह मैं किसको देखने आया हूँ? ये तो हम लोगों के समान ही राजनीति लेकर व्यस्त हैं! फिर ये किस प्रकार तुरीयानन्दजी की अपेक्षा अधिक उन्नत हैं? इस प्रकार की अनेक बातें मन में उठने लगीं। कुछ समय बाद देखा कि वहाँ का वातावरण एकदम अन्य प्रकार का हो गया है। भक्त लोग और कोई बात न कह ससम्भ्रम उन्हें प्रणाम कर उठ खड़े हुए हैं। मैं भी उन्हें प्रणाम कर अपनी बात कहने जा रहा था कि ऐसे समय वे सहसा उठकर रास्ते की ओर के सकरे बरामदे में गम्भीरभाव से टहलने लगे। उनका पहले का स्वरूप और नहीं रहा। मैं चेष्टा करने पर भी उनकी ओर बढ़ नहीं पा रहा था, न जाने किस अज्ञात भय और विस्मय ने मुझे जकड़ लिया था।

इसी प्रकार कुछ समय बीत गया। हठात्, शायद मुझ पर कृपा करके ही, वे मेरे सम्मुख दरवाजे के निकट खड़े हो गये। मैं भयमिश्रित विस्मय से उन्हें प्रणाम करके कम्पित स्वर से बोला, "महाराज, पूजनीय हरि महाराज ने मुझे आपके पास भेजा है।"

अन्य कोई बात मेरे मुख से नहीं निकली। श्री महाराज ने सस्नेह मेरी ओर थोड़ी देर ताककर केवल इतना कहा, "बच्चा, भगवान् ही एकमात्र सत्य हैं!" पता नहीं, किस भाव में उन्होंने यह बात कही। पर मैं पर्याप्त मानसिक शान्ति लेकर लौटा था।

पढ़ाई पूरी नहीं हो पायी। पहले ही कहा है कि श्री महापुरुष महाराज की परम कृपा से कुछ महीने बाद ही मठ में रहने आ गया। मेरे समान और भी कुछ नवयुवक उस समय मठ में आये थ श्री महापुरुष महाराज के परम स्नेह में हम लोग पलने लगे। पूजनीय शरत् महाराज (स्वामी सारदा-नन्द जी) बीच बीच में उद्बोधन से मठ में आते थे। पूजनीय अभेदानन्दजी भी दीर्घ २५ वर्ष अमेरिका में रहने के पश्चात् मठ वापस आये हुए थे। इन लोगों के आध्यात्मिक शक्ति-प्रभाव से मठ उस समय भरपूर था। हम लोगों को और कुछ चाहिए ऐसा कुछ मन में आता ही न था। इन लोगों का आदश; सम्मुख रख आध्यात्मिक पथ में अग्रसर होने की हम लोग यथासाध्य चेष्टा करने लगे। इसी समय एक दिन

एक साधु अस्त-व्यस्त भाव से आये और बोले, "क्यों सुना, महाराज आ रहे हैं? इस बार तुम लोग मठ की श्रेष्ठ ज्योति के दर्शन पाओगे।" उनकी बात का अर्थ तब भी कुछ समझ न पाया। श्री महाराज को इससे पहले भी दो बार देखा था। इसलिए उनसे और क्या नया पाऊँगा यह समझ न पाया। किन्तु कुछ दिन बाद ही देखा कि विभिन्न स्थानों से साधु और भक्त गण आकर मठ में इकट्ठे हो रहे हैं। उन सबके मुँह पर भी एक ही बात थी—'महाराज आ रहे हैं, महाराज आ रहे हैं!' मालूम नहीं वे लोग उनके पास कौनसा महारत्न पानेवाले थे!

यथासमय श्री महाराज आ पहुँचे। सचमुच ही देखा कि मठ की आबहवा एकदम बदल गयी। पहले भी वह स्वर्ग था, पर अब तो वह कई गुना अधिक दिव्यभाव से पूर्ण हो गया। कब महाराज के दर्शन मिलेंगे, कब उनसे दो शब्द सुनने का मौका मिलेगा इसके लिए सब अधीरतापूर्वक प्रतीक्षा कर रहे थे। केवल साधु और भक्त ही नहीं, अपितु नाना दिशाओं से कलाकार, साहित्यिक और अन्य विविध गुणी लोग भी मठ में इकट्ठा होने लगे। हम नवागत ब्रह्मचारी-गण उस समय इसका ठीक ठीक अर्थ नहीं समझ सके थे।

इस समय देखता, श्री महाराज भोर में शय्या त्यागकर नित्यकर्मादि से निवृत्त हो मठ की

दूसरी मंजिल पर गंगा की ओरवाले बरामदे में एक आराम-कुर्सी पर आकर बैठ जाते। हम नवागत ब्रह्मचारीगण इसके पूर्व ही वहाँ आ जाते और दो पंक्तियों में बैठ जप-ध्यान करने की चेष्टा करते। वे किसी से कुछ बोलते न थे। फिर भी उनकी उपस्थिति से ही हम लोगों का जप-ध्यान जम जाता।

अधिकांश समय वे अनमनी दृष्टिपूर्वक स्थिर-भाव से कुर्सी पर बैठे रहते। कभी कभी हम लोगों के कल्याण के निमित्त श्री ठाकुर का नाम लेते लेते हमारी दोनों पंक्तियों के बीच चहलकदमी करते। श्री महाराज जब आराम-कुर्सी पर बैठते, तब देखता कि वे सब समय भावमग्न हैं। उनके दोनों नेत्र शून्य-दृष्टि रहते--श्री ठाकुर के उदाहरण में आये अण्डा सेते पक्षी के नेत्रों के समान। किसी ओर ध्यान नहीं। वे तब क्या देखते और क्या सुनते यह तो वे ही जानें। उनके निकट ही गुड़गुड़ी रहती। सेवक उनकी नलकी में तम्बाकू सजा अत्यन्त सावधानी से वहाँ रख देता। श्री महाराज गुड़गुड़ी में दो-एक कश लेते। श्री ठाकुर के 'वचनामृत' में पढ़ा है कि योगी के नेत्र शायद इसी प्रकार होते हैं। श्री महाराज को जिन्होंने इस अवस्था में नहीं देखा है, वे कहाँ तक इसकी धारणा कर पाएँगे पता नहीं, किन्तु हम लोग सचमुच पिछले बहुत जन्मों के पुण्यों के फलस्वरूप इस अवस्था को प्रत्यक्ष देख धन्य हुए हैं। वे दैवी नेत्र जब एक बार

किसी पर पड़ते, तो उसके हृदय में आनन्द का स्रोत उमड़ पड़ता। क्यों ऐसी अनुभूति होती यह कोई बता नहीं पाता। किन्तु ऐसे दो-एक भाग्यवान् व्यक्तियों के मुख से सुना है कि वह दृष्टि पड़ने पर पूरे दिन भर वे लोग आनन्द में डूबे रहते। और यदि महाराज कभी किसी का स्पर्श कर देते, तो तीन दिन तक उसके भीतर वही दिव्यानन्द की धारा प्रवाहित होती रहती।

इस प्रकार बहुत समय बीत जाता। सूर्योदय होने पर पहले श्री महाराज के गुरुभाईगण और बाद में मठ के अन्यान्य वरिष्ठ साधुगण अपना जप-ध्यान पूरा कर श्री महाराज को प्रणाम करने आते। देखता, पूजनीय शरत् महाराज और अभेदानन्द महाराज भूमिष्ठ हो 'सुप्रभात' कहकर उन्हें प्रणाम करते। पूजनीय विज्ञान महाराज साष्टांग होकर और पूजनीय महापुरुष महाराज, जिनके नेत्र उसी समय ध्यान से उठने के कारण अनमने होते, दोनों हाथ जोड़कर सुप्रभात, महाराज, सुप्रभात' कहकर पुनः पुनः उन्हें आन्तरिक प्रणाम निवेदन करते। महाराज भी 'सुप्रभात' कहकर प्रत्येक के प्रणाम का उत्तर देते। केवल महापुरुष महाराज के प्रति 'सुप्रभात, तारकदा सुप्रभात' इत्यादि कहते। महापुरुष महाराज उनकी अपेक्षा उम्र में काफी बड़े थे इसीलिए लगता है, वे ऐसा कहते थे।

इसके बाद अन्यान्य साधुगण और भक्तगण

आकर उन्हें प्रणाम करते। वे भी उनमें से किसी किसी के साथ दो-एक बातें करके और किसी के साथ थोड़ा रंगरस करके उन लोगों को बिदा देते। पर देखता कि सभी का हृदय आनन्द से भरपूर हो उठता।

सुबह काम का घण्टा बजते ही हम लोग अपने अपने काम पर चले जाते। श्री महाराज भी सामान्य कुछ जलपान कर मठ के प्रशस्त प्रांगण में टहलने के लिए बाहर निकलते। उनको उस समय मैंने जिस रूप में देखा है, वह कभी नहीं भूल सकता। देखता, श्री महाराज ऊर्ध्वदृष्टि हो चल रहे हैं। उनके सेवक उनके ऊपर छाते से छाया करते हुए तेजी से साथ में चलते। जाने क्यों उस समय लगता कि श्री महाराज का शरीर मानो विशाल हो गया है। और चलते समय मानो उनके दोनों चरण भूमि का स्पर्श नहीं कर रहे हैं। जब भी उनके इस रूप को देखने का सौभाग्य प्राप्त होता, मैं टकटकी लगाकर ताकता रहता।

सन्ध्या समय आरती के पश्चात् फिर हम लोग श्री महाराज के पास इकट्ठे होते। पूजनीय महापुरुष महाराज, शरत् महाराज, अभेदानन्द महाराज, विज्ञान महाराज आदि गुरुभ्रातागण, सुधीर महाराज (स्वामी शुद्धानन्द), शुकुल महाराज (स्वामी आत्मानन्द) आदि स्वामीजी (स्वामी विवेकानन्द) के शिष्यगण तथा अन्यान्य वरिष्ठ महाराजगण जो

भी उस समय मठ में होते, सब आकर श्री महाराज के पास हम लोगों के साथ एकत्र होते। कोई कुर्सी पर आसन ग्रहण करते, तो कोई हम लोगों के साथ जमीन पर ही बैठ जाते। कुछ क्षण सबके चुप बैठे रहने पर श्री महाराज हम लोगों से कहते ,"तुम लोगों का यदि कोई प्रश्न हो तो करो, या पेसन (हरिप्रसन्न या विज्ञान महाराज) से ही पूछो। हममें कोई प्रश्न ही न उठता, तब महाराज स्वयं हमारी ओर से विज्ञान महाराज से प्रश्न पूछते। देखता, जिस प्रकार छोटा बच्चा गुरुजी के सामने उत्तर देते समय डरा डरा सा रहता है, उसी प्रकार विज्ञान महाराज भी अत्यन्त संकोच के साथ महाराज के प्रश्नों का उत्तर देते। बाद में ये ही प्रश्न अन्य दूसरे महाराज लोगों से किये जाते। वे लोग भी अपनी अपनी समझ के अनुसार उनका उत्तर देते। सभी के उत्तर हमें अति सुन्दर मालूम पडते और हम लोगों को एक नया आलोक मिलता। किन्तु सबके अन्त में जब श्री महाराज अपना समाधान देते, तब महसूस होता कि अब पूर्ण समाधान मिला यह न मिलने से उत्तर में सम्भवतः कुछ न कुछ अपूर्णता रह जाती।

ऐसी ही बैठक में एक दिन श्री महाराज कहने लगे, तुम लोग जरा प्रश्न पूछो तो कि भगवद्दर्शन करने के बाद व्यक्ति की क्या दशा होती है।' यह

प्रश्न उपर्युक्त प्रकार से सभी के पास घूमा। सभी ने बहुत अच्छे उत्तर दिये, किन्तु सबसे अन्त में जब श्री महाराज ने कहा, "क्यों उपनिषद का वह श्लोक क्यों नहीं कहते,--'भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः। क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे'॥"--(उनके दर्शन होने पर हृदय की सारी ग्रन्थियाँ छिन्न-भिन्न हो जाती हैं, समस्त संशय मिट जाते हैं, सारे कर्म समाप्त हो जाते हैं), तब लगा कि सम्यक् उत्तर तो यही है, भगवद्दर्शन होने पर इसी प्रकार के दर्शन होने की तो बात है।

इस प्रकार सुबह-शाम श्री महाराज के चरणों के समीप बैठ आनन्द से हमारे दिन बीतने लगे। एक दिन सहसा एक विपरीत घटना घट गयी। स्वामी शुद्धानन्दजी उस समय मठ-मिशन के सहायक-सचिव थे, वे बेलुड़ मठ का भी कुछ कुछ काम देखते थे। वे बड़े विद्वान्, निरभिमानी और स्नेही थे तथा हमारे सभी कामों में हृदय से उत्साह देते थे। जाने क्यों, उस दिन शाम को जब हम लोग श्री महाराज के अमृतमय वचनों को सुन रहे थे, वे अचानक मठ के मैनेजर महाराज तथा एक अन्य साधु को लेकर श्री महाराज के समीप उपस्थित हुए और उनको प्रणाम कर उत्तेजित हो कहने लगे, "महाराज, आपसे हमारी एक प्रार्थना है।" श्री महाराज जो दूसरे के मन के भावों को सहज ही भाँप लेते थे, उनको देख

सब समझ गये और बोले, "कहो सुधीर,* तुम्हें क्या कहना है।" तब शुद्धानन्दजी कहने लगे, "महाराज, ये सब लड़के आपके पास बैठ आपका उपदेश सुनते हैं। पर मठ का कोई काम हो तो प्रायः इनमें से कोई कुछ नहीं करता। इस प्रकार चलने से हम लोगों के लिये मठ का काम चलाना कठिन हो जायगा। महाराज, इसलिए प्रार्थना है कि जो काम-चोरी करे, उसे मठ से निकाल देने की आप हमें अनुमति दें।" श्री महाराज चुपचाप सुनते रहे और उनकी बातों का कोई जवाब नहीं दिया, पर जब बाद में शुद्धानन्दजी ने कहा, "महाराज, एक और प्रार्थना है, हमारे द्वारा निकाल दिये जाने के बाद फिर वह आपके यहाँ भी आश्रय न पाय," तब महा-राज और चुप न रह सके। वे कुछ उत्तेजित हो कह उठे, "तुम क्या कह रहे हो, सुधीर ? तुम लोगों का तो बस काम ही काम। ये लड़के जिसके लिए सब घर-बार छोड़कर आये हैं, जिसके लिए सब कुछ त्यागा है, उसकी ओर कितना आगे बढ़े हैं--क्या कभी तुमने इस बारे में उनसे पूछा है ? कौन कितना जप-ध्यान करता है, क्या इसकी कभी खोज-खबर लेते हो ? मैं तो देख रहा हूँ कि इनमें से प्रायः कोई भी कुछ नहीं करता। कोई कोई अधिक हुआ तो आरती में चला गया और कोई तो उसमें भी नहीं

*स्वामी शुद्धानन्द का पूर्व नाम ।

जाता। इसीलिए मैं इन लोगों को लेकर बैठता हूँ। ··· कहाँ तुम अपने पहले के किये साधन-भजन के अनुभवों से इन्हें इस विषय में थोड़ी सहायता दोगे और कहाँ लगा रखा है सिर्फ काम और काम !" इतने में एक वरिष्ठ साधु ने व्यंग्य के स्वर में कहा, "ये तो सब ज्ञानी लोग हैं, हम लोगों के पास और क्या सीखेंगे ?" यह सुनकर महाराज कह उठे, "क्या कह रहे हो, भाई···? ये लोग जानते ही कितना हैं ? अभी ही तो घर-बार छोड़कर आये हैं! यदि तुम लोग इन्हें कुछ न दोगे, तो ये लोग फिर कहाँ से सीखेंगे ? देखो भाई, यदि कुछ पाना चाहो, तो कुछ देना होगा। देखो न, दल के दल लड़के हरि भाई (तुरीयानन्दजी) के पास सेवा करने के लिए टूटे पड़ रहे हैं। और यहाँ हम-तुम लोग एक सेवक भी नहीं पा रहे हैं ! ये लोग वहाँ कुछ पाते हैं, तभी तो जाते हैं। और हम लोग यहाँ इनको कुछ दे ही नहीं पा रहे हैं।" बाद में सुधीर महाराज की ओर देखकर कहने लगे, "देखो सुधीर, तुम इन लोगों को निकाल बाहर करने की अनुमति चाहते हो, सो तुम कर सकते हो, पर मेरा दरवाजा इनके लिए सदैव खुला रहेगा. मैं किसी को भगा नहीं सकता। तुम लोग केवल काम की बातें करते हो, परन्तु मैं देख रहा हूँ कि अब हम लोगों को कुछ ऐसे साधुओं की आवश्यकता है, जो केवल ध्यान-भजन लेकर ही रहें।"

हम लोग महाराज की बातें सुनकर स्तम्भित रह गये। उनकी असीम दया और हम लोगों के कल्याण के लिए उनका ऐकान्तिक आग्रह देख हम लोग आनन्द और विस्मय से भर गये।

पूजनीय महापुरुष महाराज हम लोगों को पिता से भी अधिक स्नेह करते। एक दिन हम कुछ नये आये हुए ब्रह्मचारियों को ले वे महाराज के निकट गये और कहने लगे, "महाराज, ये लड़के नये आये हैं। य तुम्हारे पास दीक्षा लेना चाहते हैं; ये सभी अच्छ लड़के हैं। तुम्हारे दीक्षा देने से ये कृतार्थ हो जाएँगे।" पर महाराज ने उस समय उस बात का कोई उत्तर नहीं दिया। बाद में एक समय जब हम लोग उनके पास बैठे थे, तब अकस्मात् वे कहने लगे, "तुम लोग दीक्षा लेना चाहते हो? तब तो बेटे, पहले जंगल साफ करो। शम, दम, उपरति, तितिक्षा आदि सीखो। उसके बाद दीक्षा की बात करना। जंगल में बीज फेंकने से क्या होगा?"

फिर भी श्री महाराज ने अत्यन्त कृपा करते हुए इस बार हम कुछ लोगों को ब्रह्मचर्यव्रत में दीक्षित किया। ब्रह्मचर्य के दूसरे दिन जब हम लोग उन्हें प्रणाम करने गये, तब अत्यन्त स्नेहपूर्ण नेत्रों से हम लोगों की ओर देखकर उन्होंने कहा, "देखो, काली (स्वामी अभेदानन्द) कह रहा है कि तुम लोगों ने हम लोगों के समान कभी भिक्षा नहीं की, साधु-जीवन

की कठोरताओं को भी नहीं देखा, इसलिए अब जब तुम लोगों का ब्रह्मचर्य हुआ है, तब तुम लोग तीन दिन भिक्षा करके खाओ। यह तो अच्छी ही बात है, है न?" हम लोग महाराज के अन्तर के कोमल भाव को समझ गये और हमने उत्तर दिया, "जी हाँ महाराज, हम लोग अवश्य ही तीन दिन भिक्षा करके खाएँगे।"

स्वामी अभेदानन्दजी २५ वर्षों की दीर्घ अवधि के पश्चात् भारत लौटे थे। उन्होंने साधन के समय कितनी कठोरता बरती थी। कितने दिन निराहार या सामान्य भिक्षा पर उन्होंने अपने दिन काटे थे। लौटकर आने के बाद वे उस सम्बन्ध में प्रायः हम लोगों को और पूजनीय महाराज लोगों को बतलाया करते और हम लोग भी आज साधन-भजन के समय उसी प्रकार की कुछ कठोरता क्यों न बरतें, इस बात को लेकर श्री महाराज के साथ प्रायः तर्क किया करते। बहुत समय तक भारत से बाहर रहने के कारण वे किसी भी प्रकार यह मानने को तैयार न होते कि आज देश की परिस्थिति बहुत कुछ बदल गयी है और हम लोगों का मन और शरीर भी ऐसी कठोरता के अनुकूल नहीं है। पर दूसरे अन्य महाराज लोग इसे समझते थे और हम लोगों को इस प्रकार की कठोरता करने से मना ही करते थे।

जो हो, ठीक समय पर जब हम लोग बाहर

भिक्षा लेने के लिए जाने को प्रस्तुत हो रहे थे, ऐसे समय श्री महाराज के एक सेवक ने आकर कहा, "महाराज तुम सब (नवीन ब्रह्मचारियों) को बुला रहे हैं।"

हम लोगों के उनके निकट उपस्थित होते ही उन्होंने पूर्ववत् स्नेह के साथ कहा, "तुम लोग भिक्षा लेने जा रहे हो न?" हम लोगों ने उत्तर दिया, "जी हाँ, महाराज!" तब उन्होंने और भी कोमल होते हुए कहा, "देखो, सूर्य (स्वामी निर्वाणानन्द, श्री महाराज के सेवक) ने आज तुम लोगों की भिक्षा के लिए ये पाँच रुपये दिये हैं। तुम लोग इसी से बाजार से चावल इत्यादि खरीद लाओ और मठ के किसी झाड़ के नीचे पकाकर खा लो। उसी से तुम लोगों की भिक्षा का कार्य हो जायगा।"

हम लोगों ने श्री महाराज के हृदय की करुणा समझ ली और उस दिन उसी प्रकार बाजार से चावल इत्यादि लाकर हविष्यान्न बनाकर खाया। पूजनीय महापुरुष महाराज ने भी हम लोगों के निकट आकर 'भिक्षान्न पवित्रान्न' कहते हुए हमारे पास से कुछ माँगकर खाया। बाद के दो दिन भी, जहाँ तक याद पड़ता है, हम लोगों की भिक्षा इसी प्रकार हुई थी। एक भी दिन बाहर नहीं जाना पड़ा था।

इस प्रकार माता के समान कोमल हृदय लेकर श्री महाराज हम लोगों को परिचालित कर रहे थे।

इस वर्ष हम लोगों में से किसी का और दीक्षा नहीं हुई। बाद वाले वर्ष में सन १९२१ में, श्री महाराज काशी जाते हुए कुछ दिन के लिए मठ में आये थे। हम लोगों ने सुना था काशी के दोनों आश्रमों के बीच बहुत दिन से किसी बात को लेकर विवाद चल रहा है, उसी को मिटाने के लिए स्वामी सारदानन्दजी श्री महाराज को वहाँ ले जा रहे थे।

निश्चित समय पर महाराज काशी के लिए रवाना हुए, परन्तु हम लोगों ने सुना कि वहाँ जाकर उन्होंने उस विवाद के विषय मे किसी से कुछ पूछा नहीं। केवल अपने आध्यात्मिक आलोक से दोनों आश्रमों को प्रकाशित करते हुए वे वहाँ रहने लगे। साधु-ब्रह्मचारी लोग सुबह-शाम या जब भी समय पाते, उनके समीप बैठ उनके पवित्र संग और बातों से स्वयं को परितृप्त करने लगे। सारी गड़बड़ी, भेद और विवाद मिट गया। वहाँ जो कर्मयोगी थे, उनमें से कोई कोई स्वामी विवेकानन्दजी के शिष्य थे। उन लोगों ने निश्चिय कर लिया था कि वे कभी संन्यास नहीं ग्रहण करेंगे। पर उन लोगों ने भी एक एक करके श्री महाराज के द्वारा संन्यास ग्रहण किया। और जो लोग कर्म को साधन-भजन में विघ्न मानते थे, वे भी श्री महाराज के पुण्य सत्संग से स्वामी विवेकानन्दजी द्वारा प्रवर्तित निष्काम कर्म के मर्म को समझ सकने के कारण धीरे धीरे स्वयं होकर उसम

लग गये। श्री महाराज के आध्यात्मिक प्रभाव के कारण मात्र हमारे दोनों आश्रम ही नहीं, वरन् समूची काशी मानो आनन्द में गोते लगाने लगी। इस समय काशी सेवाश्रम से एक साधु ने अपने एक गुरुभाई को पत्र द्वारा इस बारे में लिखकर बतलाया था। उसने पढ़कर आनन्द-विह्वल हो पूजनीय महापुरुष महाराज को उसका सारांश बतलाया। हम लोगों ने देखा कि पूजनीय महापुरुष महाराज ने उसके हाथ से वह चिट्ठी ले ली और बार बार उसे माथे से छुलाते हुए कहने लगे, "क्यों नहीं होगा वैसा? क्यों नहीं होगा वैसा? जिन्हें एक क्षण भी देख लेने से हम लोगों का हृदय आनन्द से भरपूर हो उठता है, उन्हें जो हरदम देख रहे हैं, उन लोगों को ऐसा होगा क्यों नहीं! ऐसा होगा क्यों नहीं! लिख दो, जिससे श्री महाराज के इस पुण्य संग से कोई वंचित न रह जाय। सबको अपने प्राण जुड़ाते तक उनके इस पुण्य संग का लाभ उठाने के लिए लिख दो।"

हम लोग तो यह सब देख और सुन आश्चर्य-चकित रह गये। सोचा कि ये ही आपस में एक दूसरे को समझने में समर्थ हैं। हम लोग भला कितना समझ सकते हैं!

काशीधाम को आनन्द-रस से भरपूर कर श्री महाराज यथासमय बेलुड़ मठ लौट आये। इस बार वे बड़े ही उदार रहे। श्री महापुरुष महाराज को

बुलवाकर कहा, "तारकदा, इस बार मैंने ठीक किया है कि उन लोगों को (हम लोगों को दिखाकर) दीक्षा दूंगा। पर इस बार दीक्षा खाली हाथ नहीं होगी। प्रत्येक को एक सौ एक रुपये की दक्षिणा देनी होगी, क्यों ठीक है न?" महापुरुष महाराज श्री महाराज की बातों का रहस्य समझते थे, उन्होंने भी सिर हिलाकर कहा, "ठीक ही तो है, खाली हाथ क्यों दोगे? ये लोग १०१) जुटाएँ।" वे दोनों जानते थे, और हम लोग भी जानते थे, कि उतनी रकम जुटाना किसी के लिए सम्भव नहीं है।

यथासमय हम लोगों की दीक्षा हो गयी। दीक्षा के अन्त में हम लोगों ने श्री महाराज को प्रणाम किया; किन्तु १०१) देकर नहीं, वरन् सामान्य कुछ फल-फूल देकर; और वह भी श्री महाराज ने ही स्वयं हमारे हाथों में दे दिया था। हम लोग आनन्द से परिपूर्ण हो गये। उनकी स्नेहमयी दृष्टि से और उनके दिव्य स्पर्श से हमारा हृदय आनन्द से भरपूर हो गया। किन्तु उस समय इस बात की हम कोई कल्पना नहीं कर सके कि यह आनन्द निकट भविष्य में महा निरानन्द की सूचना दे रहा है और श्री महाराज इस बार 'बाजार में हाँड़ी फोड़ देना' चाहते हैं। वे बिना किसी अधिकारी-भेदविचार के अपने स्नेह के अन्तिम कणों को वितरित करके हम सबको धन्य कर रहे थे।

इसके कुछ दिन बाद मुझे व्यक्तिगत काम से

अपने पूर्वाश्रम जाना पड़ा। वहाँ एक दिन अकेला बैठा था कि अचानक श्री महाराज का श्रीमुख मेरी आँखों के सामने झूल उठा। मन में उठा, ये ही तो मेरे सबसे अधिक अपने हैं, मेरे सबसे अधिक प्रिय हैं, मेरे गुरु, मेरे इष्ट, मेरे जीवन के एकमात्र पथप्रदर्शक हैं। बहुत सम्भव इसके दूसरे दिन ही मठ से मुझे अपने एक मित्र का पत्र मिला था––"महाराज को हैजा हो हो गया है। शीघ्र चले आ।" किसी प्रकार का विलम्ब न कर दूसरे दिन ही लौट आया। देखा, सारा मठ नीरव और आशंकित है। सबके मन में एक महान् अशुभ की आशंका बनी है। बागबाजार में बलराम-मन्दिर में महाराज अस्वस्थ हैं। दल के दल साधु वहाँ उनके दर्शनों और सेवा के लिए जा रहे हैं। हम लोगों ने भी वहाँ जाकर उनके पुण्य दर्शन प्राप्त किये। इसके दो-एक दिन बाद सुना कि महाराज ने वहाँ उपस्थित सभी साधुओं को पूर्व रात्रि में अपनी शय्या के पास बुलाया था और उन पर अपने दिव्य आशीर्वाद का वर्षण किया था। यह भी सुना कि भाव में उन्होंने बार बार यह बात कहकर सबको सुनायी थी कि वे व्रज के वही ग्वाल-बाल हैं, जिसे श्रीरामकृष्ण ने अपने दिव्य नेत्रों से व्रजधाम में श्रीकृष्ण के साथ लीला करते देखा था। अन्य सब महाराज लोग समझ गये और हम लोगों को भी ऐसा लगने लगा कि अब श्री महाराज के लीला-

संवरण का दिन निकट है। इसके दूसरे दिन ही १९२२ ईसवी के १० अप्रैल को अपनी लीला का संवरण कर उन्होंने दिव्यधाम को महाप्रयाण किया।

इसके कुछ दिन बाद मठ में हम कुछ कम उम्र के साधु लोग बैठे थे। हम लोगों में से एक कहने लगा, "भाई, महाराज चले गये। किन्तु मुझे ऐसा लगता था कि महाराज मुझे ही सबसे अधिक चाहते हैं।" तब एक दूसरे ने कहा, "मुझे भी भाई, ऐसा ही लगता था" (अर्थात् श्री महाराज सबकी अपेक्षा उनको ही अधिक चाहते थे)। एक तीसरे ने भी ऐसा ही कहा। तब हम लोगों की अपेक्षा अधिक उम्र के एक साधु कहने लगे, "महाराज का प्रेम अगाध समुद्र के समान था। इसलिए दो-एक बूँद छिटकाकर ही वे हमें तृप्त कर देते थे, और हम लोग समझते थे कि मानो पूरे समुद्र को ही हमने पा लिया है। किन्तु समुद्र---जैसा समुद्र था वैसा समुद्र ही रह गया है। ऐसा था उनका कामगन्धहीन, सर्वकल्याणकारी अक्षय अपूर्व प्रेम।

इसके बहुत साल बाद हम लोग कनखल (हरिद्वार) गये थे। वहाँ उस आश्रम के प्रतिष्ठाता पूजनीय कल्याण महाराज ने हम लोगों में से जिस जिस ने श्री महाराज को देखा था, उनसे उनके सम्बन्ध में उनकी जन्मतिथि के अवसर पर कुछ कुछ बोलने के लिए कहा। कथा-प्रसंग में काशीजी आदि की चर्चा उठने पर मैंने थोड़ा हँसते हँसते कहा था,

"महाराज बड़े चालाक थे।" इस पर कल्याण महाराज बहुत क्षुब्ध हुए और कहने लगे, "ऐ लड़के, तूने उनको समझा कितना है? वे चालाक थे? स्वामीजी (विवेकानन्द) थे सूर्य के समान। उनके पास जाने की हम लोगों को हिम्मत नहीं पड़ती थी। और महाराज थे चन्द्रमा के समान। उनके स्निग्ध आलोक में हम सब लोग परितृप्त होते थे। उनकी बात हम सभी सुनते थे--इसलिए नहीं कि वे संघ के अध्यक्ष थे, वरन् इसलिए कि हम जानते थे कि वे हम लोगों से जो कुछ कह रहे हैं, वह हम लोगों के कल्याण के लिए है। इसलिए बिना किसी सन्देह के हम उनकी बातें सुनते थे, वे बुद्धिमान् या चालाक हैं ऐसा सोचकर नहीं।" उनकी ये बातें सुन उस दिन हम लोग मन ही मन अत्यन्त मुग्ध हुए थे। लगा था कि यही श्री महाराज का वास्तविक परिचय है।

श्री महाराज के प्रेम की अभिव्यक्ति की बात यहाँ पर थोड़ा सा लिखने में, लगता है, अप्रासंगिक नहीं होगा। वह साधारण प्रेम से पूरी तरह अलग था। वे जिससे विशेष स्नेह करते, हमने देखा है, उसके प्रति एकदम उपेक्षा का भाव दिखाते थे। सम्भव है वह व्यक्ति दिन पर दिन उनके सामने अन्य लोगों के साथ बैठा है। वे अन्य सबके साथ तो बातें करते या उन्हें ले नाना प्रकार से हास्य-विनोद करते, पर एक बार भी उसकी तरफ पलटकर नहीं देखते।

और सहसा एक दिन अपने उन अमृत सिंचन करनेवाले दिव्य नेत्रों से उसकी ओर ताक लेते। बस, उसका हृदय आनन्द से भर जाता और दिन भर उस आनन्द में उसका हृदय डूबा रहता। और यदि कृपा करके कहीं वे स्पर्श कर लेते, तब तो कम से कम तीन दिनों तक उसके मन में वह आनन्द स्थायी हो जाता। यह कोई अतिशयोक्ति या कल्पना की बात नहीं है! ऐसा अनुभव प्राप्त करनेवाले लोगों के निज के मुख से हमने ऐसा सुना है और अपने स्वयं के जीवन में एक-आध छींटा आनन्द-रस के पान का सौभाग्य पाया है। ऐसा था इस अलौकिक पुरुष का अलौकिक प्रेम, जिसका एक कण ही पाकर हम लोग कृतार्थ हुए हैं।

श्रीरामकृष्ण से पहली मुलाकातें:—
दुर्गाचरण नाग (नाग महाशय)

स्वामी प्रभानन्द

सन्ध्या का समय था। कलकत्ते के अपने वास-स्थान में दुर्गा चरण का अपने पड़ोसी एवं मित्र सुरेश-चन्द्र दत्त के साथ धर्म के बारे में जोरों से तर्क चल रहा था। कोई भी दूसरे को अपने मत के पक्ष में जीतने में सफल होता नहीं दिखायी दे रहा था। यह पहली बार नहीं था, जब उनमें ऐसा मतभेद हुआ हो। ऐसे वाद-विवाद उनके बीच प्रायः होते रहते। यद्यपि उनके धार्मिक विचारों में जमीन-आसमान का अन्तर था, फिर भी आश्चर्य था कि वे लोग पक्के मित्र थे और उनमें एक दूसरे के प्रति गहरा लगाव था।

श्री दीनदयाल नाग और श्रीमती त्रिपुरासुन्दरी की एकमात्र सन्तान दुर्गा चरण (१८४६-१८९९) का बचपन ढाका जिले के देवभोग नामक छोटे से गाँव में बीता था। वे जब आठ वर्ष के थे, तभी उनकी माँ की मृत्यु हो गयी थी और तदन्तर उनकी बुआ ने उनका लालन-पालन किया था। गरीब परिवार में जन्म होने के कारण उन्हें अपनी स्कूली शिक्षा के लिए कड़ा परिश्रम करना पड़ा था। उनका छोटी उम्र में ही विवाह हो गया था और पत्नी की मृत्यु के बाद अपने पिता की हठधर्मिता के कारण उन्हें फिर से विवाह

करना पड़ा था। कलकत्ते में उन्होंने डेढ़ वर्ष तक एलोपैथिक चिकित्सा की पढ़ाई की थी, पर उसके आगे वे पढ़ नहीं पाये। तदनन्तर उन्होंने होमियोपैथी पढ़ी और शीघ्र ही एक अच्छे चिकित्सक के रूप में प्रसिद्धि प्राप्त कर ली। यदि उनके नैतिकता के सिद्धान्त इतने कड़े न होते, तो वे बहुत आसानी से धनी बन जाते। पर दूसरों की सेवा उन्हें अपने जीवन का महत् लक्ष्य दिखायी पड़ती। अपने इस पारोपकारिक कार्यों से सन्तुष्टि का अनुभव न कर दुर्गा चरण ने अपने कुलगुरु श्री कैलासचन्द्र भट्टाचार्य से दीक्षा ले ली और पूरी निष्ठा के साथ आध्यात्मिक साधनाएँ आरम्भ कर दीं। चिकित्सा-शास्त्र पढ़ते समय उन्होंने 'युवकों के लिए उपदेश' नामक पुस्तिका, जिसमें नैतिक और धार्मिक निर्देश थे, छपवाकर मुफ्त बाँटी थी। उनका प्रिय मनोरंजन था भक्तिभरे गीत[1] लिखना।

श्री माधव चन्द्र दत्त और श्रीमती त्रैलोक्यमोहिनी के दूसरे पुत्र सुरेश की स्कूली शिक्षा चर्च मिशन सोसायटी में हुई थी। उन्होंने मेडिकल में प्रवेश लिया था, पर वे अधिक दिन तक अध्ययन जारी न रख सके। उनके बड़े भाई जोगेश को ईसाई धर्म अपनाने के कारण शीघ्र ही परिवार से अलग हो जाना पड़ा

---

१. शरत्चन्द्र चक्रवर्ती ने माँ दुर्गा और काली पर दुर्गा चरण के रचे पाँच सुन्दर गीतों को प्रकाशित करवाया था (प्रतिवासी, वर्ष २, सख्या ९, पृष्ठ १४५–७)।

था। इस बीच सुरेश ब्राह्म-आन्दोलन के प्रति आकर्षित हो गये और ब्राह्मधर्म में उनकी गहरी निष्ठा हो गयी। यद्यपि दुर्गा चरण भी सुरेश के साथ कई बार ब्राह्मसमाज में जा चुके थे और केशवचन्द्र सेन के कार्यों के प्रशंसक थे, फिर भी वे हृदय से पूरी तरह आस्थावान् हिन्दू थे।

दुर्गा चरण उस समय अकेले कुमारटोली[२] के एक छोटे से मकान में रहते थे। उनके वृद्ध पिता देवभोग में थे, इसलिए उनकी सेवा के लिए दुर्गा चरण ने अपनी पत्नी श्रीमती शरतकामिनी को, जिससे पाँच वर्ष पूर्व उनका द्वितीय विवाह हुआ था, देवभोग भिजवा दिया था।[3] एक दिन जब दोनों मित्र किसी धार्मिक विषय पर चर्चा कर रहे थे, तब दुर्गा चरण ने दुःख प्रकट करते हुए कहा, "व्यर्थ दिन बीते जा रहे हैं। जब तक सत्य का साक्षात्कार न हो जाय, तब तक मानव-जीवन व्यर्थ है।" उत्तर में सुरेश[४] ने कहा

२. सन् १८८० में हाथखोला मोहल्ले में सुरेशचन्द्र के पड़ोस में उन्होंने एक दुमजिला मकान लिया था। अपने पिता और पत्नी के देवभोग चले जाने पर वे कुमारटोली के अपने पहले के सस्ते मकान में फिर चले गये थे।

३. गुरुपद भौमिक लिखित 'श्री श्रीमहाविराट्-जुगल लीला' (बँगला में दुर्गा चरण नाग की जीवनी) की भूमिका, पृ० ४। साथ ही श्रीरामकृष्ण आश्रम, नागपुर से १९७१ में प्रकाशित 'साधु नागमहाशय', पृ. ४१।

४. सुरेश चन्द्र दत्त (१८५०–१९१२) श्रीरामकृष्णदेव

कि उन्होंने साधारण ब्राह्मसमाज में एक महान् सन्त के सम्बन्ध में सुना है, जो दक्षिणेश्वर के मन्दिर में रहते हैं। किसी कारणवश सुरेश दो महीने तक यह बात दुर्गा चरण को बतलाना भूल गये थे। अब उन्होंने जैसा दक्षिणेश्वर के परमहंस के सम्बन्ध में सुना था, दुर्गा चरण को कह सुनाया। सुनकर दुर्गा चरण में उत्सुकता जागी। वे उसी दिन उस सन्त के दर्शन के लिए आकुल हो उठे। उन्होंने सुरेश से साथ चलने के लिए आग्रह किया।

यह अप्रैल १८८२ के आसपास की बात होगी।[५] अपना प्रातः भोजन शीघ्रता से निपटाकर वे लोग दक्षिणेश्वर के मन्दिर के लिए रवाना हुए। मन्दिर का ठीक ठीक पता उन्हें ज्ञात न था। काफी देर

के भक्तों में प्रथम थे, जिन्होंने उनके सम्बन्ध में पुस्तक छपवायी थी। 'The Sayings of Paramhansa Ramakrishna' सर्वप्रथम २३ दिसम्बर, १८८४ को छपी थी। बाद का एक संस्करण जिसमें श्रीरामकृष्णदेव की संक्षिप्त जीवनी और ९५० उपदेश प्रकाशित हुए थे, बहुत लोकप्रिय हुआ। वे दुर्गा चरण से उम्र में छोटे थे और उन्हें 'मामा' कहा करते थे।

[५] गुरुपद भौमिक : वही, पृ. ३४। 'साधु नागमहाशय,' पृ. ४२। विनोदिनी मित्र लिखित 'श्री श्री दुर्गा चरण नाग' (बँगला) के अनुसार (पृ. ३४) दुर्गा चरण जब प्रथम बार श्रीरामकृष्णदेव से मिले, तब उनकी उम्र ३५ वर्ष की थी। वास्तव में वे तब ३५ वर्ष ७ महीने और कुछ दिन के थे।

चलने के उपरान्त एक राहगीर से पूछने पर पता चला कि दक्षिणेश्वर ग्राम तो पीछे ही छूट गया है। वे लोग पीछे लौटे और मध्याह्न के दो बजे के लगभग दक्षिणेश्वर के मन्दिर में पहुँचे। तपती धूप में नौ मील पैदल चलना बड़ी थकावट लानेवाला श्रम था। पर सन्त के दर्शन की उत्सुकता में उन्हें इसका कोई भान न हुआ। वे इधर-उधर घूमकर पता लगाने लगे कि इतने में प्रताप चन्द्र हाजरा से उनकी भेंट हुई। वह श्रीराम-कृष्णदेव के कमरे के सामने ही बैठा था, पर उसने गलत सूचना दी कि श्रीरामकृष्ण चन्दननगर गये हुए हैं। उसने उन्हें किसी और दिन आने की सलाह दी। अत्यन्त निराश हो वे वापस लौटने को उद्यत हो ही रहे थे कि उस कमरे से किसी[६] ने उनको मुसकराते हुए भीतर आने का इशारा किया। कमरे में प्रविष्ट हो उन लोगों ने देखा कि एक प्रौढ़ सज्जन उत्तर की ओर मुख किये एक छोटे से तख्त पर पैर फैलाये बैठे हैं। शीघ्र ही वे लोग उनके आकर्षण में बँध गये वे सज्जन मध्यम कद के और दिखने में क्षीणकाय थे। चेहरे पर छोटी छोटी दाढी थी। ओठों पर हलकी सी मुसकान और अन्तर्मुखीन दृष्टि के कारण

---

६. द्रष्टव्य : 'साधु नागमहाशय', पृष्ठ ४५। अक्षय कुमार सेन लिखित 'श्री श्रीरामकृष्ण पुँथी', द्वितीय संस्करण, पृ. २९८, के अनुसार श्रीरामकृष्णदेव उस समय प्रताप चन्द्र हाजरा से वार्तालाप कर रहे थे।

उनके चेहरे का अपना अलग आकर्षण था। वे थोड़ी तुतलाहट लिये हुए ग्राम्य बंगला भाषा में वार्तालाप कर रहे थे, पर उनका बोलने का तरीका बड़ा आकर्षक था। उम्र छियालीस से कुछ ही अधिक होगी। आगन्तुकों को लगा कि यही रामकृष्ण परमहंस होंगे।

जैसा कि श्रीरामकृष्णदेव का स्वभाव था, उन्होंने आगन्तुकों को पहले नमस्कार किया। सुरेश चन्द्र ने अन्य ब्राह्मसमाजियों की तरह हाथ जोड़कर नमस्कार किया। दुर्गा चरण ने दण्डवत् हो उनके चरणों की धूलि लेनी चाही, पर श्रीरामकृष्णदेव ने अपने पैर समेट लिये। दुर्गा चरण ग्लानि से भर उठे। अत्यन्त दुःखित हो सोचने लगे, सम्भवतः उनमें इतनी पवित्रता नहीं है कि वे ऐसे सन्त के चरणों का स्पर्श करने के अधिकारी बन सकें।[७]

---

७. सुरेश चन्द्र इसको अन्य रूप में लिखते हैं। वे अपने मित्र दुर्गा चरण के शब्दों में अभिव्यक्त करते हैं, "जिस दिन पहली बार मैं ठाकुर (श्रीरामकृष्णदेव) के पास गया था, मैं बिदा लेते समय उनके चरणों की धूलि लेना चाहता था। पर जब ठाकुर ने अपने चरण समेट लिये, तब मुझे अपने हृदय की कुटिलता का भान हुआ।" (सुरेश चन्द्र दत्त : 'श्रीमत् रामकृष्ण परमहंस देवेर संक्षिप्त जीवनी', पृ. ५२)। इसी से मिलता-जुलता वर्णन गुरुदास बर्मन लिखित 'श्री श्री रामकृष्ण चरित' (बंगला), पृ. २०८ में मिलता है। इन दोनों वर्णनों से यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि

वे लोग फर्श में बिछी चटाई पर बैठ गये। आगन्तुकों को परखने में श्रीरामकृष्णदेव को विशेष समय न लगा। दुर्गा चरण छत्तीसवें वर्ष में थे और सुरेश उनसे चार वर्ष छोटे थे। काले वर्ण के क्षीण-काय दुर्गा चरण अपने वेश और शरीर के प्रति अन्यमनस्क थे। उनके बेतरतीब दाढ़ीवाले चेहरे की विशेषता थी दो चमकती आँखें। वे दीनता की मूर्ति थे। जब चलते, तब सर्वदा धीरे धीरे नीचे दृष्टि गड़ाये चलते। 'कृपा', 'मैं कुछ नहीं हूँ', 'मैं भला क्या जानूँ?' ऐसे शब्द प्राय: उनके मुख से उच्चारित होते रहते। सन्त-महात्माओं के सामने वे सदैव हाथ जोड़े खड़े रहते।[८] श्रीरामकृष्णदेव ने बाद में उनके सम्बन्ध में कहा था कि वह 'धधकती आग' है।

सामान्य परिचय पूछने के पश्चात् श्रीरामकृष्ण-देव अध्यात्म सम्बन्धी चर्चा में मग्न हो गये। उन्होंने कहा, "संसार में उसी प्रकार रहो, जैसे 'पाँकाल' मछली कीचड़ में रहती है। बीच बीच में संसार से अलग जाकर एकान्त-निर्जन में भगवान् का ध्यान और

श्रीरामकृष्ण से मिलने पर दुर्गा चरण ने उन्हें दण्डवत् प्रणाम किया और विदा लेते समय उनके चरणों की धूलि लेनी चाही।

८. एक बार श्रीरामकृष्णदेव ने नागमहाशय को दिखा-कर नरेन्द्र (स्वामी विवेकानन्द) से कहा, "इसी में ठीक दीनता आयी है, कुछ भी बनावटी भाव नहीं है।" द्रष्टव्य: 'साधु नागमहाशय,' पृ. ५०।

चिन्तन-मनन करने से भगवान् में प्रीति उत्पन्न होती है। उसके बाद संसार में अनासक्त होकर रहा जा सकता है। मछली को कीचड़ में ही रहना पड़ता है, पर उसकी देह में कीचड़ नहीं लगता, उसी प्रकार मनुष्य गार्हस्थ्य जीवन अनासक्त होकर बिता सकता है।" उन्होंने आगे कहा, "संसार में अनासक्त होकर रहो। संसार में रहो, पर संसार के होकर मत रहो। यह हमेशा ध्यान रहे कि संसार का कीच तुम्हें न लगने पाए।"

श्रीरामकृष्णदेव के इन वचनों ने दुर्गा चरण के मन पर अमिट प्रभाव डाला। उन्हें विस्मय हुआ कि श्रीरामकृष्णदेव ने उनके अन्तःस्थल के भीतरी तारों को छू लिया था। उनके शब्दों ने अपने लक्ष्य को भेद लिया था। दुर्गाचरण सांसारिक जीवन में आनन्द नहीं पा रहे थे। पूर्वकाल में प्रायः उनके मन में गृहस्थ-जीवन को त्याग देने की इच्छा प्रबल हो उठती थी। अब श्रीरामकृष्णदेव के वचनों ने उस समस्या का हमेशा के लिए समाधान कर दिया।[१]

---

१ श्रीरामकृष्णदेव के वचनों को पूर्णरूपेण आत्मसात् कर दुर्गा चरण ने गृहस्थ-जीवन में रहते हुए परम पूर्णत्व प्राप्त किया था। स्वामी विवेकानन्द ने उनके सम्बन्ध में कहा था, 'सब नियमों के दो-एक व्यतिक्रम भी रहते हैं। गृहस्थ धर्म ठीक ठीक पालन करते हुए भी दो-एक पुरुषों को मुक्त होते देखा गया है; ऐसे हमारे यहाँ नागमहाशय हैं।" द्रष्टव्य : विवेकानन्द साहित्य, षष्ठ खण्ड, १९७३, पृ. ६३-६४।

इसी बीच दुर्गा चरण अपनी चिकित्सक की दृष्टि से परमहंसदेव की शारीरिक विशिष्टताओं को सूक्ष्मता से परख रहे थे। वे श्रीरामकृष्णदेव के चेहरे को ध्यानपूर्वक देख रहे थे कि श्रीरामकृष्णदेव पूछ बैठे, "क्या देख रहे हो?" दुर्गा चरण ने उत्तर दिया, "आपको देखने आया हूँ, इसलिए आपको देख रहा हूँ।" कुछ प्रश्नोत्तर के बाद श्रीरामकृष्णदेव ने दुर्गा चरण से पूछा, "क्या इस स्थान (स्वयं को दिखलाकर) का भाव तुम ग्रहण कर पाये?" दुर्गा चरण का स्पष्ट उत्तर था, "ऐसा मैंने पहले कभी नहीं देखा। आप सम्भवतः वही हैं, जिनके लिए जन्म से ही मेरी आत्मा भटक रही थी।"[१०]

तदनन्तर श्रीरामकृष्णदेव ने उन लोगों को पंचवटी में जाकर कुछ देर ध्यान करने के लिए कहा। उन्होंने उसका पालन किया। लगभग आधा घण्टा पश्चात् श्रीरामकृष्णदेव उन लोगों को अपने साथ ले मन्दिरों के दर्शन के लिए चले। श्रीरामकृष्णदेव आगे थे और वे लोग पीछे पीछे चल रहे थे। अन्य मन्दिरों को देखने के पश्चात् श्रीरामकृष्णदेव अन्त में जगन्माता काली के मन्दिर में प्रविष्ट हुए। वहाँ उनमें विचित्र परिवर्तन आ गया। वे माँ के सामने छोटे बच्चे जैसा व्यवहार कर रहे थे। वे जगन्माता

---

१०. शरत्चन्द्र चक्रवर्ती : 'नागमहाशय', उद्बोधन,' (बँगला मासिक), वर्ष ८, संख्या ९, पृ. २७०।

के चारों ओर अनेक बार परिक्रमा करने लगे। फिर झुककर उन्होंने शंकरजी और काली के चरणों का स्पर्श किया। श्रीरामकृष्णदेव के भावपूर्ण व्यवहार को देख आगन्तुक मुग्ध हो उठे, विशेषकर दुर्गा चरण।

जगन्माता के अन्नभोग का उन लोगों ने प्रसाद पाया। अन्त में सन्ध्या से कुछ पूर्व दुर्गा चरण और उनके मित्र ने श्रीरामकृष्णदेव से विदा ली! श्रीरामकृष्णदेव ने इन शब्दों के साथ बिदाई दी, 'फिर से आना। अपने आगमन को दुहराना; तभी परिचय गहरा हो सकेगा।" ऐसा प्रतीत होता है कि वे लोग पैदल ही हाथखोला स्थित अपने निवासस्थल को लौटे थे।

दुर्गा चरण उस दिन यह नहीं समझ सके थे कि श्रीरामकृष्णदेव एक सन्त हैं, या महापुरुष, अथवा ईश्वर के अवतार। परन्तु इस मिलन ने उनके अन्दर ईश्वर को पाने की इच्छा प्रज्वलित कर दी। उस दिन से उन्होंने अपने भीतर उस लौ को सदा बनाये रखा। ठाकुर के आदर्शों को जीते हुए संसार में वे सांसारिकता से अलिप्त रहे। श्रीरामकृष्णदेव ने उनकी समानता राजा जनक से की थी। स्वामी विवेकानन्द से तुलना करते हुए गिरीशचन्द्र घोष ने कहा था कि स्वामीजी ने अपने 'अहं' को इतना विशाल बना लिया था कि माया उन्हें बाँधने में अक्षम हो गयी और नागमहाशय ने अपने को इतना छोटा बना लिया था कि वे

माया-जाल के छिद्र में से बाहर निकल आये। वे स्वर्णिम युग के यथार्थ सन्त थे।

वे श्रीरामकृष्णदेव के पास बहुत कम बार गये, दूसरों की अपेक्षा बहुत कम बार। तथापि उनकी दैवी शक्ति ने दुर्गा चरण में आध्यात्मिकता की जो लौ प्रज्वलित कर दी थी, वह बाद में जब पूरी तरह से धधकने लगी, तब वह साधु-संन्यासियों को भी उनके सत्संग के लिए आकर्षित करने लगी। उनके सम्बन्ध में बहुत सुन्दर शब्दों में व्यक्त किया गया है-- ,,वे Imitation of Christ (ईसानुसरण) के इन वचनों के जीवन्त उदाहरण थे, 'Dying to self and living eternally to me' (अपने लिए मर जाना और मेरे लिए चिरन्तन काल के लिए जीवित रहना)।"[११]

•

११. प्रबुद्ध भारत (अँगरेजी मासिक), मई १९००, पृष्ठ ६९।

स्वामी अखण्डानन्द के चरणों में (११)

"एक भक्त"

(स्वामी अखण्डानन्द श्रीरामकृष्ण के संन्यासी-शिष्यों में सबसे छोटे थे और भक्तों में 'बाबा' के नाम से परिचित थे। उनके संस्मरणों और उपदेशों के लेखक 'एक भक्त' उन्हीं के एक शिष्य और रामकृष्ण-संघ के संन्यासी हैं। ये संस्मरण बँगला में 'स्वामी अखण्डानन्देर स्मृतिसचय' के नाम से प्रकाशित हुए हैं। प्रस्तुत लेख वहीं से गृहीत हुआ है।--स०)

यहाँ कुछ दिन की घटनाओं को अत्यन्त संक्षेप में एक साथ लिपिबद्ध किया गया है।

पूजा के समय एक भक्त पत्नी-वियोग से व्याकुल हो अपने पुत्र-पुत्रियों को ले आश्रम में आया। बाबा ने उसके साथ बडे आनन्द में प्राय: दो महीने बिताये। कभी ठाकुर की बातें होतीं, तो कभी स्मृति-कथा कहते, कभी हास्य-विनोद करते। सबसे बड़ी बात--उत्सव पर उत्सव लगा हुआ था, दुर्गापूजा के बाद कालीपूजा, फिर जगद्धात्री-पूजा। इन सबसे ऐसा लगता मानो आश्रम मर्त्यलोक से बाहर कोई देवभूमि है--मानो साक्षात् कैलास ही है।

दुर्गापूजा के कुछ दिन बाबा भाव में विभोर थे---विशेषकर दशमी के दिन। सारी रात कालीपूजा हुई; दूसरे दिन सुबह बाबा ने जगद्धात्रीपूजा करने की इच्छा प्रकट की---तीन पूजाओं के लिए तीन रंग के कपड़े चाहिए। बाबा स्वयं कुमारी-पूजा करेंगे।

"इतना खर्च कौन देगा?"—ऐसा बाबा से पूछने पर उन्होंने उक्त भक्त की ओर इशारा करके दिखला दिया। आयोजन बड़ा सुन्दर हुआ था। बाबा भी छोटे बच्चे के समान मातृपूजा के उल्लास में मतवाले हो गये थे। पूजा के दिन १०-११ बजे इसी भक्त की आठवर्षीया कन्या की फल-फूल-मिठाई के साथ उन्होंने कुमारी-पूजा की।

एक उल्लेखनीय घटना और है। इन दिनों बाबा सन्ध्या के समय एक एक दिन एक एक प्रकार से सजते—कभी बड़े बड़े रुद्राक्ष की माला गले में डाल दण्ड-कमण्डलु हाथ में ले नेपालीबाबा सजते; तो कभी नीले रंग की कफनी पहिन हाथ में गडुवा ले मुसलमान-फकीर बनते, या फिर बर्मा से भेजी गयी पोशाक और छाते में बौद्ध फुँगी साधु हो जाते। एक दिन साड़ी (और शायद कड़े भी) पहनकर माँ-यशोदा बन गये। ये सब उनके जीवन के किसी गूढ़ रहस्य से जुड़े हो सकते हैं, यह उस समय कोई नहीं जानता था। ऐसा लगता कि सबके—विशेषकर उक्त भक्त के उन मातृहीना लड़के-लड़कियों के—मनोविनोद के लिए वे ऐसा कर रहे हैं। सभी हँसते हँसते लोट-पोट हो जाते। नेपाली बाबा गम्भीर हो कहते, "हिमालय से आया हूँ," और मस्तक से रुद्राक्ष छुलाकर सबको आशीर्वाद देते।

भक्त के ७-८ पुत्र-पुत्रियाँ और आश्रम के

७-८ अनाथ बालक सन्ध्या समय बाबा को घेरकर बैठे हैं। बाबा हँसी करते हुए भक्त से कहने लगे, "तुम्हारे भी ८ और मेरे भी ८। क्या कहते हो? एक लड़का मुझे दे दो।" भक्त बाण से बिंधे हरिण के समान अपने शावक-बच्चों की ओर देखने लगा। यह देख महाराज बोल उठे, "रहने दो, रहने दो। भाई, तुम्हारे ही रहें।" तत्पश्चात् लड़कों की ओर ताककर बोले, "क्यों रे, तुममें से कोई साधु बनेगा?" भक्त का बड़ा लड़का अँधेरे में जाने से डरता है, इसलिए बाबा कह रहे हैं, "ठाकुर का नाम जब सुना है, तब भय किस बात का रे?" एक दिन बाबा ने आश्रम के बालकों और भक्त के बच्चों के साथ फोटो खिचवायी——यही उनकी अन्तिम तसवीर थी।

इस प्रकार दीर्घ डेढ़ महीने का समय बाबा के पास बिताकर भक्त शोक मिटाकर आनन्द से भरपूर हो वापस लौटा।

उस दिन सन्ध्या बाबा ने सबको बुलाकर कहा, "आरती के बाद रोज सब लोग यहाँ चले आना। मैं अनेक प्रकार की बातें बतलाऊँगा," और ऐसा कह वे बोलने लगे——"साधुसंग खूब आवश्यक है। हम लोगों ने क्या कम साधुसंग किया है? जहाँ ज्योंही अवसर मिला——किया है। साधुसंग नहीं होने से कुछ नहीं होता। 'तुलसी ये संसार में पाँच रतन हैं सार।

साधुसंग औ ' हरिकथा दया दीन उपकार।' स्वामीजी (स्वामी विवेकानन्द) कहते थे--'साधुसंग से ही हरि-चर्चा, भगवान् की चर्चा होती है; दया, दीनता, उपकार यह सब होता है। साधुसंग से ही सब होता है।' साधुसंग से धर्मभाव जागता है। संसार में तो सब गीला हुआ पड़ा है--सुख-भोग की वासना के रस में। कैसे जलेगा ? थोड़ा तपा लेना होगा। हाँ, यदि चकमक पत्थर हो, तो उसकी बात अलग है। हजार बरस पानी में डूबे रहने पर भी जब भी निकालकर घिसोगे, जल उठेगा। उस प्रकार कौन है ? कितने होंगे ?"

कुछ क्षण की निस्तब्धता के बाद फिर कहने लगे, " देखो, त्याग पर ही सब बड़े बड़े काम निर्भर करते हैं। कभी बहरामपुर जाकर चार आने का जलपान नहीं किया--बहुत हुआ तो एक डाब (कच्चा नारियल) ले लिया, पर गाड़ीवान को खिलाता था--देवबाबू के यहाँ मैं दोपहर में खाता था। कहीं पाँच प्रकार के व्यंजन न बनने लगें इसलिए पहले ही कह देता--सिर्फ भात ही भात बनाओ, अधिक कुछ बनाने पर और नहीं आऊँगा। बिलकुल अनिच्छा-पूर्वक वे लोग खिलाते और कहते--यह ठीक नहीं हुआ, एक दिन आपको हमारी इच्छा से खाना होगा।

"कभी आश्रम के पैसों से स्वयं के कपड़े नहीं खरीदे। महाराज (स्वामी ब्रह्मानन्द) भेज देते। बाद

में अवश्य बहुत बहुत हो गया। कभी अच्छे बिस्तर पर नहीं सोया, घुटने आपस में टकरा जाने पर बड़ा कष्ट होता, इसलिए पैर के लिए एक तकिय की जरूरत पड़ती। पर उसमें भी गिलाफ न होता—एक पुराने वस्त्र में लपेटकर गाँठ लगा लेता। सबको खिलाया, पहिनाया है, जहाँ तक बन सके सुखी रखने को कोशिश की है। आज यह कमरा, खाट, तकिया, कपड़ा-लता देखकर कुछ भो अन्दाज नहीं लगाया जा सकता।

"यही देखो न, म—बहरामपुर में चावल इकट्ठा करता, सबेरे से थोड़ा मुरमुरा खाकर रहता, शाम को लकडी के धुएँ में आँख-मुँह से पानी गिरता रहता ऐसे में भिक्षा से मिले चावल के साथ एक-आध आलू पकाकर खा लेता। उसका कष्ट देख कालेज के लड़कों ने कहा—हम लोग चावल इकट्ठा कर देंगे, सारी व्यवस्था कर देंगे, आप हमें हाँड़ियाँ दे जाइए। यह त्याग देखकर ही तो लोग आये न।

"पुरी में देखा—नाना प्रकार के भोग-नैवेद्य की व्यवस्था थी, माँ-लक्ष्मी के दर्शन किये, उनका स्पर्श किया। महाराज (स्वामी ब्रह्मानन्द) को बतलाया। उन्होंने कहा, 'तुम्हें अब कोई चिन्ता नहीं। माँ-लक्ष्मी की कृपा से आश्रम में अब अभाव-कष्ट नहीं रहेगा।' सचमुच उसके बाद से फिर कभी कोई अभाव नहीं हुआ, जब जो आवश्यक हुआ, जुट गया।"

१६ दिसम्बर, १९३६। आज आश्रम-जीवन के मूल सिद्धान्त (principle) के बारे में स्वामी अखण्डानन्दजी ने अनेक बातें कहीं—

"लोग थाली के किनारे semi-circle (अर्धवृत्ताकार) में बैठकर खाते और मुरमुरा बिखराकर नष्ट करते। पहले तो थोड़ासा भी मुरमुरा नष्ट करने पर उस दिन उसके हिस्से का चावल नहीं देता था। भिक्षा में प्राप्त कोई वस्तु कभी नष्ट की जाती है ? कितना कष्ट सहकर लोग देते हैं—हमेशा इस बात का ख्याल रखना। उनका त्याग भी कम नहीं है।

"वेदान्ती परमहंस की अवस्था में तो अभी नहीं पहुँचे हो कि मिला तो खा लिया और नहीं मिला तो नहीं खाया। वैसा जब तक नहीं होता, तब तक सब चीजों को यत्न से रखना होगा। जो लोग अपना खून बहाकर, जीवन देकर एक आश्रम गढ़ते हैं, उनकी जात ही अलग है। गढ़ना बहुत कठिन है। कितना पुरुषार्थ चाहिए ! अभी पैसा हुआ है, पर स्वयं की लाने की सामर्थ्य नहीं, दूर दूर स्थानों से 'भक्त लोग' भेज देते हैं ! इसलिए जलाये जाओ कोयला ! परन्तु पहले (जब मैं अकेला था) क्या करता था, जानते हो ? इस मैदान, उस मैदान, घूमकर सूखी लकड़ी, बाँस, गोबर इकट्ठा कर जमा रखता। शाम को हम सब जाकर ले आते। फिर दूर किसी गाँव में कभी

एक झाड़ १ रुपयें में डिस्ट्रिक्ट बोर्ड से मिल जाता। उसे लकड़हारे से चिरवाता और गाड़ी में भरवाकर ले आता। छोटे छोटे टुकड़ों को भी बोरे में भरकर उठवा लाता। उससे भोजन बनता और बाबू लोग खाते।

"मैं दो वर्ष नहीं था। आकर देखा बाबू लोगों ने गाड़ी गाड़ी कोयला खरीदकर रखा है, और कोई कष्ट नहीं। आश्रम में गायें हैं, तब भी गोबर के कण्डे खरीदे जाते हैं। आश्रम के मैदान में जो गोबर पड़ता है, या तो बाहरवाले आकर ले जाते हैं, या पड़े पड़े सूखकर मैदान को गन्दा करता रहता है, पर उस ओर किसी का ध्यान नहीं है। साधु-ब्रह्मचारी भला इन सब तुच्छ विषयों में कैसे मन देंगे ?

"स्वामीजी (विवेकानन्दजी) कहते थे--कोयले में पका भोजन खाने से अम्लपित्त होता है; उसमें पानी खौल तो जल्दी जाता है, पर चीजें ठीक पकती नहीं हैं। लकड़ी में पकाया खाने से स्वास्थ्य अच्छा रहता है, जरा आदिवासियों और सन्थालों को देखो न। कण्डे की आँच में बना भोजन सहज ही हजम हो जाता है, क्योंकि धीरे धीरे पकता है। पोर का पकाना देखा नहीं ? उसका principle (सिद्धान्त) था कि कोयले में पकाया नहीं खाऊँगा। Principle (सिद्धान्त) मानकर चलने के लिए पुरुषार्थ चाहिए। हुआ तो हुआ, नहीं हुआ तो नहीं हुआ--ऐसा करने

से नहीं चलेगा। Principle (सिद्धान्त) के लिए बहुत त्याग करना पड़ता है।

" 'स्वामीजी, स्वामीजी' करते हो--स्वामीजी तो एक principle (सिद्धान्त) की प्रतिमूर्ति थे। कल स्लाइड (मैजिक लैन्टर्न के चित्र) में जो सब देखा, वे उसी की प्रतिमूर्ति थे। वे रक्त-मांस से निर्मित न थे, वे idea (भाव) से बने थे। वे जैसा कहा करते थे, 'Radha was not of flesh and blood. She was a froth in the ocean of love' (राधा रक्त-मांस की न थी, वह तो मानो प्रेमसागर की फेन से बनी थी)। उसी प्रकार वे स्वयं भी रक्त-मांस के नहीं थे--वे भावों की एक प्रतिमूर्ति थे। Principle (सिद्धान्त) का पालन बहुत कठिन बात है। उसके लिए सब कुछ त्यागना पड़ता है। Principle (सिद्धान्त) ही तो ideal (आदर्श) है।

"जरा स्वरूपानन्द को देखो न, स्वामीजी के आदर्श के अनुसार उसने principle (सिद्धान्त) तय किया कि 'मायावती' में किसी प्रकार की पूजा-आरती नहीं होगी। इसके लिए उसे कितनी बाधा सहनी पड़ी। इस विषय में गुरु की अपेक्षा चेला मजबूत निकला। वह चला गया, पर उसके principle-- उसके आदर्श के अनुसार अभी भी कार्य हो रहा है।"

१७ दिसम्बर, १९३६। धनगोपाल मुखोपाध्याय के प्रति स्वामी अखण्डानन्द के मन में एक

कोमल और स्नेह-भरा भाव था। वह बीच बीच में प्रकट हो जाता। विगत जुलाई मास अचानक उनकी मृत्यु का समाचार पा महाराज बड़े ही मर्माहत हुए थे। मृत्यु के पश्चात् उनका अन्तिम पत्र महाराज को मिला। उसमें भी लिखा था––'देश लौटकर श्री माँ (सारदा देवी) की एक जीवनी लिखकर संसार को उपहार दूंगा।' हर हफ्ते की डाक में धनगोपाल मुखोपाध्याय का पत्र आता। टेढ़े-मेढ़े बड़े बड़े बँगला अक्षरों में चिट्ठी लिखी होती, उसमें 'क्रमशः' लिखा होता और दो-तीन बार में एक पत्र पूरा हो पाता। उन्होंने अपनी सारी पुस्तकें आश्रम के ग्रन्थालय को भेजी थीं।

आज अचानक उनकी बात चल पड़ी है। बाबा कह रहे हैं––"धनगोपाल की रचना को वे लोग (अमेरिकन) sparkling style (चमकदार शैली) कहते थे। उस देश में लोग उसकी बात सुनते हैं, appreciate (प्रशंसा) करते हैं। उसकी किताब सभी पढ़ते हैं। यह क्या कम बात है ? कैसी हालत में वहाँ पहुँचा था और कितना गण्यमान्य हो गया था ! बड़ा कष्टपूर्ण जीवन था उसका–– struggle (संघर्ष) करते करते ऊपर उठा था। ठाकुर पर कैसा विश्वास था ! माँ की बात आते ही बस लिखता–– शरणागत ! शरणागत ! सारो चिट्ठी 'शरणागत' से भरी होती ! मैंने उसे बँगला लेखनी पकड़ायी थी।

दादा (स्वामी शिवानन्द) की बीमारी के समय आया था। कहने लगा--अबकी बार जाकर चिट्ठी लिखूँगा। मैंने कहा, 'पर तुम्हें बँगला में लिखना होगा।' एक वस्त्र उसने चाहा था। कहा कि मुझे रेशमी कपड़ा नहीं चाहिए, आपका पहना खादी का कपड़ा चाहिए।"

× × ×

फिर से principle (सिद्धान्त) की बात आ उठी। बाबा कहने लगे--"गाय तो रखना चाहोगे, पर सेवा करोगे नहीं। ऐसा एक भी नहीं देखा, जो कुत्ते को समय पर खाना खिला दे। वे लोग पारी पारी से खाना खिलाते। किसी ने भी सामने आकर ऐसा नहीं कहा कि इसका जिम्मा मैं लेता हूँ। मन में बल नहीं है।

"मेरे पास ८-१० वर्ष रहने के बाद यदि थोड़ा दूर चला जाए, या फिर मैं ही यहाँ कुछ दिन न रहूँ, तो मेरे सारे principle (सिद्धान्त) भुला दिये जाते हैं। मैं न रहूँ तो क्या होगा यह समझ ही सकते हो। सब जगह एक ही बात है। Principle को पकड़ रखना क्या सहज बात है? उसके लिए बहुत त्याग-तपस्या चाहिए।

"स्वामीजी (विवेकानन्दजी) को कहते हैं Patriot-Saint (देशभक्त संन्यासी)। Patriot (देश-भक्त) होना क्या सरल है? देशात्मबोध--देश के

साथ एकत्वबोध ! अन्य किसी को तो नहीं देखा, जो feel (अनुभूति) करे या कराये। हमीं तो मिशन के आदि-कार्यकर्ता हैं--उनके हाथ से तैयार हुए। पर हमारी बात ही भला कौन सुनता है ?

"एक बड़ी idea (भाव) पचा जाना क्या सबके लिए सम्भव है? वह idea (भाव) लेकर जो लोग जन्म लेते हैं, वे ही घबरा जाते हैं--नाम-यश की चाह बड़ी प्रबल है। हम लोग संन्यासी हैं--हम लोगों के लिए नाम-यश काक-विष्ठा के समान है।

"फिर देखो, काम करना क्या इतना सरल है? अपने दोष को लोग स्वीकार करना नहीं चाहते। कोई बड़ा दोष किया, पर बताएगा नहीं, स्वीकार नहीं करेगा। यदि कभी दूसरे के मुँह से निकल जाय, तो भी नहीं। हम लोगों का कैसा था, जानते हो ? यदि कोई दोष किया हो, तो सबसे पहले स्वयं जाकर कहूँगा--'मैंने यह दोष किया है।' स्वामीजी (अमेरिका से) लौट रहे थे। एक गुरुभाई सीलोन (श्रीलंका) चले। उनका उद्देश्य था कि किसी के बतलाने से पहले ही स्वयं सबसे पहले उनसे मिलकर अपने दोष की बात कह देना।

"दार्जिलिंग से लौट रहा था। गाड़ी छूटने से तनिक पहले एक लड़का स्टेशन से हम लोगों के डिब्बे में कूद चढ़ा। सोचा, शायद अनाथ है, इसलिए उसे साथ ले आ रहा था। सिलीगुड़ी में मालूम पड़ा उसके

बाप है, त्योंही पुलिस को सब बताकर लड़के को वहीं छोड़ आया। इधर famine relief (दुर्भिक्ष राहत कार्य) के बाद सरकारी गजट में गश्ती चिट्ठी निकली थी कि अनाथ लड़के हम लोगों के पास आ सकते हैं। कलकत्ता आने पर सुना कि उस लड़के के बाप का स्वामीजी के पास तार आया था—'तुम्हारे लोग हमारे लड़के को पकड़ ले गये हैं।' मैं स्वामीजी से मिलने माँ के मकान (बोसपारा का किराये का मकान) गया हुआ था। उस दिन वहाँ उनके आने की बात थी। भेंट होते ही स्वामीजी ईषत् हँसे और फट-कारते हुए बोले, 'अनाथ लड़कों के लिए लार टपक रही है?' मैंने सारी बात विस्तार से ही कही। तब वे बड़े प्रसन्न हुए।

"सच्चा संन्यासी होना क्या सरल बात है? संन्यासी होने से पहले हम लोगों ने कितनी साधना, कितनी तपस्या की है? कितना कठोरी होना पड़ता है—भूख-प्यास, गरमी-जाड़ा सहना पड़ता है, फिर निन्दा-स्तुति को समान समझना पड़ता है। यह सब क्या सरल है? अकेला, मौन रह गम्भीरतापूर्वक विचार करता, ध्यान करता—एक गाल में चन्दन लगा है, तो दूसरे में विष्ठा! सोचता—अभी ही कोई मुझे फूल की माला पहना सम्मानपूर्वक ले गया, और उसके बाद ही कोई आकर मेरा अपमान कर रहा है, मुझे ताड़ना दे रहा है, मेरे शरीर पर गन्दा

पानी फेंक रहा है, मुझे भगा दे रहा है, पर मैं मानो सब अवस्थाओं में स्थिर हूँ। अब मानो मरुस्थल से होकर जा रहा हूँ, फिर उसके बाद ही हिममण्डित गिरिशृंग पर चढ़ रहा हूँ--यही सब हमारा ध्यान का विषय था। किससे कहूँ, और सुनेगा भी कौन! सभी टालमटोल कर बचना चाहते हैं। जो जितना करेगा, उतना फल पाएगा। टालमटोल करने से, कामचोरी से शून्य, फुक्का ही तो मिलेगा!

"रोज सोने के समय यह विचार करना अच्छा है कि आज मैंने कितना क्या किया? भगवान् को पुकारा है तो? किसी के मन को किसी प्रकार का कष्ट तो नहीं दिया? गुरुजनों की मीठी बात के बदले कोई कठोर बात तो नहीं कह दी?--यह सब। और प्रार्थना के प्रति खूब निष्ठा होनी चाहिए--जप और प्रार्थना के प्रति। ध्यान तो बहुत दूर की बात है। स्वामीजी कहते थे--जो लोग काम-काज के डर से ध्यान में बैठते हैं, उन्हें हल में जोतना चाहिए। मैं तो खाली कुदाल ले मिट्टी कोड़ने के लिए कहता हूँ।

"सदैव जप और प्रार्थना करो--भक्ति दो विश्वास दो, दर्शन दो। खाली जप से क्या होगा? 'माला जपे साला, कर जपे भाय। मन ही मन जपो यदि तो बलिहारी जायँ'।"

●

दंड समान भयउ जस जाका

पं. रामकिंकर उपाध्याय

(पण्डित उपाध्यायजी ने दिल्ली के बिड़ला लक्ष्मीनारायण मन्दिर में 'लक्ष्मण चरित्र' पर ४ से ११ अप्रैल, १९७३ तक आठ प्रवचन प्रदान किये थे। प्रस्तुत लेख इस क्रम का चौथा प्रवचन है।

टेपबद्ध प्रवचनों के अनुलेखन का श्रमसाध्य कार्य श्री नन्दकिशोर स्वर्णकार ने किया है, जो दिल्ली की सालिड स्टेट फिजिक्स लेबोरेटरी में कार्यरत हैं। उनकी इस बहुमूल्य सेवा के लिए हम उनके अत्यन्त आभारी हैं।—स०)

भगवान् राम के निकटस्थ सहयोगियों में श्री लक्ष्मण की भूमिका अन्यों की अपेक्षा सर्वथा भिन्न है। गोस्वामी तुलसीदासजी ने श्री लक्ष्मण को दण्ड की उपमा दी है—

रघुपति कीरति बिमल पताका।
दंड समान भयउ जस जाका॥ १।१६।६

श्री भरत, उनकी दृष्टि में, भगवान् राम के चरण-कमल के भ्रमर हैं। भ्रमर और कमल का सम्बन्ध भी अनुराग का ही सम्बन्ध है, किन्तु यदि कमल पर भ्रमर न भी हो, तो उससे उसके सौन्दर्य में कोई अन्तर नहीं आता। लेकिन दण्ड और पताके का सम्बन्ध भिन्न प्रकार का है। गोस्वामीजी कहते हैं कि श्री राम की कीर्ति तो पताका की तरह है और श्री लक्ष्मण का यश दण्ड के समान है। दण्ड के अभाव में पताका की स्थिति हो ही नहीं सकती, पताका आकाश में फहराने के लिए दण्ड पर निर्भर रहता

है। इस दृष्टि से श्री लक्ष्मण की भूमिका अन्यों की अपेक्षा सर्वथा भिन्न है। उनकी भूमिका में एक जटिलता यह है कि कई प्रसंग ऐसे आते हैं, जो परस्पर विरोधी हैं और वे ऐसे प्रत्येक प्रसंग में साथ हैं। उनकी उपस्थिति में भगवान् राम जितना निःसंकोच व्यवहार करते हैं, उतना और किसी पात्र की उपस्थिति में नहीं। श्री भरत और श्री हनुमान से भगवान् राम का जो सम्बन्ध है और श्री लक्ष्मण से उनका जो नाता है, इन दोनों सम्बन्धों में एक बहुत बड़ा अन्तर है। श्री राम भरत का भी बड़ा संकोच करते हैं। वे कहते हैं--

राखेउ रायँ सत्य मोहि त्यागी।
तनु परिहरेउ पेम पन लागी॥
तासु बचन मेटत मन सोचू।
तेहि तें अधिक तुम्हार सँकोचू॥२।२६३।६-७

--'भरत, राजा ने मुझे त्यागकर सत्य को रखा और प्रेम-प्रण के लिए शरीर छोड़ दिया। उनके वचन को मेटते मन में सोच होता है। उससे भी बढ़कर तुम्हारा संकोच है।' और हनुमानजी के समक्ष प्रभु कहते हैं--

प्रति उपकार करौं का तोरा।
सनमुख होइ न सकत मन मोरा॥ ५।३१।६

--मैं तो तुमसे दृष्टि मिलाने योग्य नहीं हूँ। तुम्हारे ऋणों ने मुझे इतना दबा दिया है कि मुझे लगता है मैं तुम्हारे सम्मुख मुख करने योग्य नहीं।

इन पंक्तियों से यह तो सिद्ध होता है कि भगवान् राम के मन में श्री भरत और श्री हनुमान के प्रति कितनी प्रगाढ़ भावना है, पर यह सिद्ध नहीं होता कि कितना अधिक अपनत्व है। आदर एक अलग बात है और अपनत्व अलग। यदि कोई ऐसा व्यक्ति है, जिससे भगवान् राम को संकोच नहीं होता, तो वह हैं लक्ष्मण। जहाँ भी व्यक्ति को भिन्नता का बोध होता है, वहाँ संकोच होता है। अपने आप से व्यक्ति को भिन्नता का कोई बोध नहीं होता, अतः अपने से किसी को संकोच भी नहीं होता। तो, भगवान् राम लक्ष्मणजी से भिन्नता का कोई बोध ही नहीं करते। इसीलिए पूरे 'रामचरितमानस' में वे लक्ष्मणजी के प्रति कभी कृतज्ञता प्रकट नहीं करते, जैसी वे हनुमानजी के प्रति करते हैं। क्या हनुमानजी की अपेक्षा लक्ष्मणजी की सेवा कुछ कम है? लक्ष्मणजी की सेवा तो प्रभु को बाल्यावस्था से उपलब्ध है, पर एक अद्भुत बात यह आती है कि हनुमानजी से प्रभु का ज्योंही परिचय हुआ, प्रभु ने कह दिया——

सुनु कपि जियँ मानसि जनि ऊना।
तैं मम प्रिय लछिमन ते दूना॥ ४।२।७

——तुम मुझे लक्ष्मण से दुगुने प्रिय हो। यदि प्रभु हनुमान को लक्ष्मण के समान प्रिय बताते, तो भी कोई बात थी, पर एकदम दुगुना प्रिय बता दिया!

हनुमानजी को यह सुनकर कैसा लगा होगा? क्या आप सोचते हैं कि हनुमानजी ने मान लिया कि मैं सचमुच लक्ष्मणजी की अपेक्षा दुगुना प्रेमभाजन हूँ? ऐसी भूल हनुमानजी कभी नहीं कर सकते। उनका हृदय तो प्रभु का यह वाक्य सुनकर लक्ष्मणजी के प्रति अभिभूत हो गया। वे सोचने लगे—धन्य हैं लक्ष्मणजी, जो प्रभु के कितने विश्वासपात्र हैं! प्रभु ने जो बात कही थी, वह कितनी व्यवहार-विरुद्ध थी। एक चतुर व्यावहारिक व्यक्ति ऐसी भूल नहीं कर सकता, जैसी प्रभु ने की। एक व्यक्ति के सामने दूसरे की तुलना की जाय और दूसरे को श्रेष्ठ बता दिया जाय, तो तात्पर्य यही होगा कि पहले व्यक्ति की सेवा का कोई मूल्य ही नहीं आँका गया। लक्ष्मणजी सारे परिवार और समग्र सुख का परित्याग कर प्रभु की सेवा में कितने दिनों से लगे हुए हैं और एक ही क्षण के परिचय में हनुमानजी बड़े हो गये! तो क्या प्रभु ने लक्ष्मणजी की सेवा का कोई मूल्य नहीं आँका? इसका उत्तर यह है कि प्रभु के अन्तःकरण में यदि हनुमानजी के प्रति आदर की पराकाष्ठा है, तो लक्ष्मणजी के प्रति अपनत्व की। इसीलिए लक्ष्मण ही ऐसे पात्र हैं, जिनके प्रति भगवान् राम को न तो कृतज्ञता की अनुभूति होती है, न ऋण का बोध। ऋण का बोध तब होता है, जब हम दूसरे से कुछ लेते हैं। व्यक्ति अपने आपका ऋणी नहीं

होता। हनुमानजी यदि चरणों में गिर जायँ, तो प्रभु चाहते हैं कि हनुमानजी को सम्मान दें और यदि भरतजी गिर जायँ, तो उन्हें गले से लगा लें। इन दोनों पात्रों के सन्दर्भ में प्रभु में द्वन्द्व प्रारम्भ हो जाता है, पर एक लक्ष्मणजी ही ऐसे पात्र हैं, जो चाहे चरणों में पड़े रहें, चाहे प्रभु के पास बैठे रहें, जिनके किसी भी क्रिया-कलाप में प्रभु को कोई आपत्ति नहीं। इससे बढ़कर लक्ष्मणजी के लिए और क्या बात हो सकती है कि उनकी उपस्थिति में भगवान् राम को किसी द्वितीय की उपस्थिति का बोध नहीं होता।

लक्ष्मणजी हर प्रसंग में उनके साथ हैं, पर अलग अलग प्रसंग में उनकी भूमिका अलग अलग हो जाती है। भगवान् राम जिस दिन धनुष तोड़ते हैं, उससे एक दिन पहले वे पुष्पवाटिका में रहते हैं। पुष्पवाटिका यदि शृंगार का प्रसंग है, तो धनुषयज्ञ वीरता का। जहाँ धनुष-भंग करना है, वह तो वीर-रस का ही प्रसंग हो सकता है। और यदि आध्यात्मिक दृष्टि से विचार करें, तो वह अध्यात्म का दिव्य दर्शन भी है। श्री लक्ष्मण शृंगार-रस में भी प्रभु के साथी हैं और वीर-रस में भी। पर दोनों प्रसंगों में उनकी भूमिका अलग अलग है। विचार करने पर दोनों प्रसंगों में एक बात में समानता दिखायी देती है, वह यह कि दोनों ही प्रसंग 'तोड़ने'

के हैं। भगवान् राम पुष्पवाटिका में पुष्प तोड़ते हैं और धनुषयज्ञ में धनुष। पर दोनों में एक अन्तर है। पुष्प कोमलता का प्रतीक है और धनुष कठोरता का। पुष्पवाटिका में कोमलता की पराकाष्ठा है पुष्प और धनुषयज्ञ के मण्डप में कठोरता की सीमा है धनुष--उसे वज्र की अपेक्षा भी कठोर बताया गया है। और दोनों के तोड़ने की क्रिया श्री राम द्वारा सम्पन्न होती है। यही गोस्वामीजी की अनोखी शैली है। यहाँ गोस्वामीजी की भावना में दर्शन का समन्वय होता है। क्या यह सम्भव है कि कोई सरल काम करना हो, तो व्यक्ति थक जाय और कठिन काम करना हो, तो व्यक्ति न थके? गोस्वामीजी इसे सम्भव मानते हैं। वे उदाहरण देते हैं कि जब भगवान् राम वाटिका में पुष्प चुनते हैं, तो उससे--'भाल तिलक श्रमबिंदु सुहाए' (१।२३२।३)--उनके माथे पर पसीने की बूँद आ जाती है, और धनुष तोड़ते समय उनका अनुभव उलटा है। वे इतनी सरलता से, इतने तत्क्षण, इतने अल्पकाल में धनुष टूटने की क्रिया को सम्पन्न कर लेते हैं कि उन्होंने धनुष कब उठाया, कब उसे चढ़ाया और कब तोड़ दिया, यह किसी ने नहीं देखा--

लेत चढ़ावत खैंचत गाढ़ें।
काहुँ न लखा देख सबु ठाढ़ें॥ १।२६०।७

---एक बिजली-सी कौंधी और धनुष टूट गया। लोगों

को ऐसा प्रतीत हुआ कि धनुष तो टूटा हुआ ही पड़ा है और श्री राम खड़े हैं। तो, वज्र से अधिक कठोर धनुष को तोड़ने में श्रम की अनुभूति का अभाव और सुकोमल पुष्प को तोड़ने में श्रम-बिन्दु का आना ! क्या तात्पर्य है ? यहाँ पर मानो गोस्वामीजी इस प्रसंग को मात्र एक घटना के रूप में नहीं लेते, बल्कि उसे भावना से जोड़ देते हैं। यह पुष्पवाटिका का प्रसंग कई रामायणों में प्राप्त नहीं है । संस्कृत में केवल माघ के नाटक में इसका संकेत प्राप्त होता है। तो, पुष्पवाटिका के प्रसंग की अवतारणा के पीछे गोस्वामीजी का क्या उद्देश्य था ? विचार करने पर ऐसा प्रतीत होता है कि पुष्पवाटिका का प्रसंग गोस्वामीजी को लाना इसलिए आवश्यक था कि महाराज जनक ने प्रतिज्ञा की थी कि जो शंकरजी का धनुष तोड़ेगा, उसे मैं अपनी कन्या अर्पित करूँगा। ऐसी परिस्थिति में, जिस व्यक्ति के द्वारा धनुष टूटता, श्री किशोरीजी उसके गले में जयमाला अर्पित करने के लिए बाध्य होतीं, और वह शुद्ध अनुराग का सम्बन्ध न होकर धर्म के द्वारा जोड़ा गया सम्बन्ध होता ।

प्रीति के दो मार्ग हैं---एक वह, जो धर्म और बुद्धि के द्वारा उत्पन्न होता है और दूसरा, सहज । वर और कन्या का एक दूसरे से कोई परिचय नहीं। विवाह-मण्डप में धर्म के सूत्र के माध्यम से दोनों को

जोड़ा गया और उसके पश्चात् कन्या को यह अवसर प्राप्त हुआ कि पति के प्रति अनुराग लाए। तो, विवाह के पश्चात्, पति को पाकर कन्या अनुराग-मयी हो जाती है। यह अनुराग विवाह से पहले नहीं होता, धर्म और बुद्धि के माध्यम से होता है। दूसरा अनुराग वह है, जो सहज है, जिसे हम स्वभाव का अनुराग कहते हैं, जिसमें बुद्धि और धर्म की प्रेरणा नहीं है; वह हृदय की बात है। धनुष के टूटने के बाद यदि गोस्वामीजी सीता के प्रति श्री राम के प्रेम का वर्णन करें, तो वह बुद्धि और धर्म के माध्यम से उत्पन्न प्रेम होगा, किन्तु जिसे गोस्वामीजी सहज प्रीति कहते हैं, उसकी अवतारणा नहीं होगी। बुद्धि और धर्म के माध्यम से जो प्रेम उत्पन्न होता है, उसमें मर्यादा तो होती है, पर उसमें सहज प्रेम से उत्पन्न अनुराग की अनन्यता नहीं होती। गोस्वामीजी की कठिनाई यह है कि वे श्री राम और श्री सीता के परस्पर प्रेम में मर्यादा के साथ अनुराग की अनन्यता का भी दर्शन कराना चाहते हैं। वे 'रामचरितमानस' में मर्यादा और प्रीति दोनों का निर्वाह करना चाहते हैं। यदि वे धनुष तोड़ने से पहले प्रीति का प्रदर्शन करते हैं, तो इसमें प्रीति की सहजता तो आती है, पर मर्यादा का अतिक्रमण हो जाता है, और यदि वे धनुष टूटने के बाद प्रीति का प्रदर्शन करते हैं, तो इससे मर्यादा का संरक्षण तो होता है, पर प्रीति की

अनन्यता का हनन हो जाता है। इन दोनों का निर्वाह करने के लिए ही गोस्वामीजी पुष्पवाटिका के प्रसंग का उत्थापन करते हैं। पुष्पवाटिका-प्रसंग की विशेषता क्या है ?

धनुषयज्ञ के प्रसंग में वर्णन आता है कि महाराज जनक निराश हैं और निराशा से घिरकर वे कह उठते हैं——यदि मैं जानता होता कि पृथ्वी वीरों से खाली हो गयी, तो ऐसी प्रतिज्ञा करके मैं हँसी का पात्र नहीं बनता। यदि मैं चाहूँ, तो यह मेरे लिए सम्भव है कि प्रतिज्ञा को तोड़कर अपनी कन्या का विवाह कर दूं, पर क्या करूँ ?——

सुकृतु जाइ जौं पनु परिहरऊँ।
कुअँरि कुआरि रहउ का करऊँ॥
जौं जनतेउँ बिनु भट भुबि भाई।
तौ पनु करि होतेउँ न हँसाई॥ १।२५१।५-६

——और तब लक्ष्मणजी बोल उठते हैं। गोस्वामीजी संकेत देते हैं कि पुष्पवाटिका में श्री राम बोलते हैं और श्री लक्ष्मण मौन हैं, और धनुषयज्ञ में श्री लक्ष्मण बोलते हैं, श्री राम मौन हैं। धनुषयज्ञ में आप देखेंगे कि लक्ष्मण की भूमिका गर्जना की है और उस समय वे एक ऐसा वाक्य कह देते हैं, जो बाह्य दृष्टि से खटकनेवाला है। यदि लक्ष्मणजी ने यह कहा होता कि श्री राम धनुष तोड़ सकते हैं, तो कोई आश्चर्य की बात नहीं थी, पर जब वे महाराज जनक की

आलोचना करने के बाद भगवान् राम से यह कहते हैं कि 'जौं तुम्हारि अनुसासन पावौं'—यदि आपकी आज्ञा प्राप्त हो, तो धनुष को उठा लूँ और उसे तत्काल तोड़कर पृथ्वी पर डाल दूँ, तो यह खटकने-वाली बात लगती है। जब लोग लक्ष्मणजी के दोष गिनाने लगते हैं, तो एक यह दोष भी उनके चरित्र में जोड़ देते हैं कि वे इतने आवेश में आ जाते हैं कि क्या कहना और क्या नहीं कहना, इसका उन्हें ध्यान नहीं रहता। जब लक्ष्मणजी को यह ज्ञात है कि धनुष तोड़नेवाले से ही श्री सीताजी का विवाह होगा, तो क्या उन्हें यह कहना शोभा देता है कि मैं धनुष तोड़ दूँ? ऐसा प्रतीत होता है कि लक्ष्मणजी आवेश के मारे मर्यादा का विस्मरण कर देते हैं। पर क्या यह सत्य है? मैं तो यह कहूँगा कि यदि सचमुच मर्यादा का अतिक्रमण हुआ होता, तब तो वह वाक्य सुनकर सबसे अधिक दुःख सीताजी को होना चाहिए था, क्योंकि यदि सीताजी और श्री राम के अनुराग को कोई जानता है, तो वह लक्ष्मणजी हैं, जो पुष्पवाटिका में श्री राम के साथ उपस्थित हैं। अब ऐसी परिस्थिति में यदि लक्ष्मणजी कहें कि मैं धनुष तोड़ दूँ, तो यह अमर्यादा की पराकाष्ठा मानी जा सकती है। श्री किशोरीजी के अन्तःकरण में प्रभु के प्रति अनन्य अनु-राग है। लक्ष्मणजी का वाक्य सुनकर उन्हें तो लगना था कि वे बड़े आवेश में आ जानेवाले व्यक्ति हैं, जिन्हें

मर्यादा का भी ध्यान नहीं रहता अथवा यह लगता था कि लक्ष्मण का अन्तःकरण कलुषित है। पर सीताजी को ऐसा नहीं लगता, उन्हें तो इसके विपरीत ही अनुभव होता है। गोस्वामीजी लिखते हैं कि जब लक्ष्मणजी ने वह वाक्य कहा, तो--

लखन सकोप बचन जे बोले।
डगमगानि महि दिग्गज डोले।।
सकल लोग सब भूप डेराने।
सिय हियँ हरषु जनकु सकुचाने।। १।२५३।१-२

--सीताजी के हृदय में हर्ष हुआ और जनकजी सकुचा गये। गोस्वामीजी सबसे पहले सीताजी की प्रतिक्रिया का ध्यान करते हैं और कहते हैं कि उनके हृदय में हर्ष की बाढ़ आ गयी। लक्ष्मणजी का वह वाक्य सुन भगवान् राम को तो और भी बुरा लगना चाहिए था, क्योंकि वे लक्ष्मणजी को पुष्पवाटिका में शृंगार-रस का श्रोता बना चुके हैं। श्री सीता के सौन्दर्य को देखकर उनके अन्तःकरण में जो कवित्व फूटा, उसे लक्ष्मणजी को सुना चुके हैं। पर प्रभु तो लक्ष्मणजी की बात सुनकर इतने अभिभूत हो गये कि उनके शरीर में बार बार रोमांच होने लगा--

गुर रघुपति सब मुनि मन माहीं।
मुदित भए पुनि पुनि पुलकाहीं।। १।२५३।३

--तो, श्री सीता और श्री राम पर पड़नेवाली यह जो प्रतिक्रिया है, वही सिद्ध कर देती है कि लक्ष्मणजी

का वाक्य पूरी तरह मर्यादित था। विश्वामित्रजी तो इस सारे नाटक के सूत्रधार ही हैं, जिन्हें सब कुछ ज्ञात है। वे देख रहे हैं कि जनक लक्ष्मण की भूमिका नहीं समझ पा रहे हैं, पर सोचते हैं कि महाराज जनक भी बाद में समझ लेंगे। जनक यह मानते हैं कि धनुष के टूटने का सीताजी के विवाह के साथ सम्बन्ध है—धनुष के टूटने पर ही सीता का विवाह होगा, पर लक्ष्मण ऐसा नहीं मानते। बस, यहीं पर दोनों में मतभेद है। लक्ष्मणजी को यह ज्ञात है कि धनुष के टूटने से विवाह का रंचमात्र भी सम्बन्ध नहीं। उन्होंने जो सहज ढंग से कह दिया कि मैं धनुष तोड़ देता हूं, उसके द्वारा वे जनक की भ्रान्ति पर प्रहार करना चाहते थे कि क्या धनुष टूटने पर ही श्री सीता और श्री राम का विवाह होगा? यदि कोई महाराज दशरथ से, अयोध्यावासियों से पूछे कि भगवान् राम और सीता का ब्याह कब हुआ, तो वे क्या उत्तर देंगे?——यही कि अगहन शुक्ल पंचमी को। 'रामचरित-मानस' में इसका संकेत प्राप्त होता है——

हिम रितु अगहनु मासु सुहावा।।
ग्रह तिथि नखतु जोगु बर बारू।
लगन सोधि बिधि कीन्ह बिचारू।। १।३११।५-६

——अगर यही प्रश्न कोई विश्वामित्र से कर दे, तो व्यावहारिक दृष्टि से वे यही उत्तर देंगे कि——

टूटतहीं धनु भयउ बिबाहू। १।२८५।८

--धनुष जब टूट गया, तो विवाह तो उसी दिन हो गया, अब औपचारिकता का निर्वाह किसी भी दिन हो, उसका कोई महत्त्व नहीं। और यदि कोई लक्ष्मणजी से पूछे कि विवाह कब हुआ, तो वे कह देंगे कि विवाह तो कल पुष्पवाटिका में हो चुका है, अब आपकी सन्तुष्टि के लिए औपचारिकता का निर्वाह हो सकता है, पर मेरे लिए उसका कोई महत्त्व नहीं। फिर, तात्त्विक दृष्टि से जो कालतत्त्व है, उसे तो ज्ञात है कि यह विवाह चिरन्तन है, यह विवाह होता नहीं है। शक्ति और ब्रह्म तो शाश्वत रूप से मिलित हैं, एकाकार हैं, तब भला इनके विवाह का क्या प्रश्न?--'एक अनादि अनन्त अनूपम लाल प्रिया म भई न चिन्हारी।'

ऐसा ही प्रश्न शंकर और पार्वती के विवाह के विषय में आता है। जब देवगण ब्रह्माजी से प्रार्थना करते हैं कि आप चलकर शंकरजी से अनुरोध कीजिए कि वे पार्वतीजी से विवाह कर लें, तो वे शंकरजी के पास प्रार्थना करने तो जाते हैं, पर बड़ी चतुराई से अपनी बात रखते हैं। वे जानते हैं कि यदि मैं शंकरजी से कह दूँ कि आप पार्वतीजी से विवाह कर लीजिए, तो सम्भवतः शंकरजी से फटकार मिल जाय कि यही तुम्हारा ज्ञान है, जो शक्ति और ब्रह्म का विवाह होगा! अभी यदि विवाह होना है, तो अब तक क्या था? जिस समय मैना कहती हैं कि इस

पागल वर से मैं अपनी कन्या का विवाह नहीं करूँगी, तो नारद आकर समझाते हुए कहते हैं--यदि पार्वती तुम्हारी कन्या मात्र होती, तब भले ही तुम कह सकती थीं कि अपनी लड़की शंकर को नहीं दूँगी। पर वह तो--

मयना सत्य सुनहु मम बानी।
जगदंबा तव सुता भवानी ॥ १।९७।२

--साक्षात् जगज्जननी भवानी है। वह 'सदा संभु अरधंग निवासिनि'---शाश्वत रूप से शंकर के साथ निवास करती है। यह तो तुम्हें एक सुअवसर प्राप्त हुआ है कि कन्यादान का सौभाग्य प्राप्त करो। वस्तुतः तुम्हारे विवाह करने न करने से शिव-पार्वती के विवाह का कोई सम्बन्ध नहीं।

इसीलिए जब ब्रह्माजी शंकरजी के पास जाते हैं, तो उनसे ऐसा नहीं कहते कि आप विवाह कर लीजिए, बल्कि बड़ी चतुराई से अपनी बात रखते हुए कहते हैं---

सकल सुरन्ह के हृदयँ अस संकर परम उछाहु।
निज नयनन्हि देखा चहहिं नाथ तुम्हार बिबाहु ॥ १।८८

--भगवन्, सब देवतागण अपनी आँखों से आपका विवाह देखना चाहते हैं। ब्रह्मा का तात्पर्य यह है कि प्रभो, आपका विवाह तो शाश्वत है, पर हम लोग नहीं देख पाये हैं, इसलिए ऐसी कृपा कीजिए, जिससे हम भी आपका विवाह देख सकें। संसार

के माता-पिता अपने बालक के आग्रह पर उसे तरह तरह के खेल दिखलाते हैं, पर यदि बालक उनसे कहे कि हम तो आप दोनों का विवाह देखना चाहते हैं, तो वह उसे नहीं दिखला सकते। पिता अपने बच्चों को विश्व में सर्वत्र घुमा सकता है, चन्द्रलोक में भी ले जा सकता है, पर अपना ब्याह उसे कैसे दिखा सकता है? ब्रह्माजी मानो भगवान् शंकर से यह कहना चाहते हैं कि आप तो ईश्वर हैं, जगत्पिता हैं, आपका चमत्कार यही है कि एक साधारण पिता अपने बच्चे को जो दिखा नहीं सकता, वह आप कर सकते हैं, आप अपने बच्चों को अपना विवाह दिखला सकते हैं। व्यक्ति तो वर्तमान में ही रह सकता है, वह भूतकाल में कैसे जायगा? पर अगर ईश्वर सर्वशक्तिमान है, तो वह भूत को वर्तमान के रूप में परिणत कर सकता है और इस प्रकार अपनी सामर्थ्य का परिचय दे सकता है। तो, यही चमत्कार हमें शंकर-पार्वती और राम-सीता के विवाह में परिलक्षित होता है।

तुलसीदासजी से पूछा गया कि ईश्वर निर्गुण है या सगुण? उन्होंने कहा—'हिय निर्गुन नयनन्हि सगुन'—हृदय के लिए वह निर्गुण है और नेत्रों के लिए सगुण। ब्रह्मा भी मानो यही कहना चाहते हैं। भले ही ब्रह्म और शक्ति का मिलन शाश्वत हो, पर नेत्रों की माँग यह है कि हम उस मिलन को देख

सके। जिस वस्तु को हम देख नहीं पाते, उसकी रसानुभूति कैसे हो ? तो, ब्रह्माजी इस रसानुभूति के छल से शिव-पार्वती का विवाह देखना चाहते हैं। और ब्रह्माजी की आकांक्षा पूर्ण हो गयी। पर जब वे राम-सीता का विवाह देखने गये, तो बात कुछ दूसरी हो गयी। शिवजी का विवाह तो उन्होंने अन्य परम्परा से देखा, पर जब वे श्री राम का विवाह देखने जाते हैं, तो उसे मानव परम्परा में देखते हैं। वे सोचते हैं कि विवाह जनकपुर में हो रहा है, जनकपुर भारतवर्ष में है और भारतवर्ष ब्रह्माण्ड में है, जिसका रचयिता, निर्माण-कर्ता मैं हूँ। पर वहाँ--

बिधिहि भयउ आचरजु बिसेषी।
निज करनी कछु कतहुँ न देखी।। १।३१३।८

--ब्रह्माजी को अपना बनाया कुछ नहीं दिखता। वे आश्चर्य से सोचते हैं कि किसी दूसरे ब्रह्मा के ब्रह्माण्ड में तो नहीं चला आया। यह सब किस ब्रह्माण्ड की वस्तु है ? शंकरजी ब्रह्मा की इस भ्रान्ति को पहचान जाते हैं। ब्रह्माजी बुद्धि के देवता हैं और शंकरजी विश्वास के। जब शंकरजी का प्रसंग था, तब बुद्धि के देवता की बुद्धि सुस्थिर थी, पर अब जब श्री राम का प्रसग आया, तो उनकी बुद्धि विचलित हो गयी, और तब विश्वास ने संकेत दिया--

सिवँ समुझाए देव सब जनि आचरज भुलाहु।
हृदयँ बिचारहु धीर धरि सिय रघुबीर बिआहु।। १।३१४

——ब्रह्मा, अचरज न करो, यह श्री सीता और श्री राम का विवाह है ! कितना अनूठा व्यंग्य था और व्यंग्य में कितनी बड़ी बात कह दी गयी ! ब्रह्माजी देख रहे थे कि मेरा बनाया हुआ संसार कहाँ चला गया और शंकरजी व्यंग्य के माध्यम से संकेत करते हैं कि तुम अभी जन्मे कहाँ हो, जो अपना बनाया संसार खोज रहे हो। तुम स्वयम्भू तो हो नहीं, तुम्हारा भी कोई जन्मदाता है। अभी तो श्री सीता और श्री राम का विवाह हो रहा है, उसके बाद ब्रह्मा का जन्म होगा और तब वह अपना संसार बनाएगा। शंकरजी का अभिप्राय यह था कि जो व्यक्ति अपनी सत्ता को नहीं भूल सकेगा, वह राम-सीता का विवाह कैसे देख सकेगा ? जो शाश्वत मिलन है, उसे देखने के लिए तो व्यक्ति को अपनी सत्ता को भूल जाना होगा, ब्रह्मा को अपने काल का विस्मरण कर देना होगा।

बस, यही दृष्टि लक्ष्मणजी की थी, जब उन्होंने कहा कि यदि प्रभु आज्ञा दें, तो मैं इस शिवधनुष को तोड़ दूं। वे यह नहीं मानते थे कि धनुष के टूटने पर श्री राम और श्री सीता का विवाह होगा। वे तो उनके विवाह को चिरन्तन और शाश्वत मानते थे। ब्रह्म और शक्ति के मिलन का सम्बन्ध धनुष के टूटने या न टूटने से नहीं हो सकता है। इसीलिए जब महाराज जनक ने कहा कि मैं तो प्रतिज्ञा तोड़कर अपनी कन्या का विवाह कर दूँ, पर क्या करूँ, पुण्य

के नष्ट होने का डर है--'सुकृतु जाइ जौं पनु परि-हरऊँ'--तो लक्ष्मणजी व्यंग्य करते हैं कि धनुष टूटने के दो उद्देश्य हो सकते हैं--एक तो विवाह और दूसरा, महाराज जनक के पुण्य की रक्षा। विवाह को तो मैं उद्देश्य मानता नहीं, पर हाँ, यह मैं मान सकता हूँ कि महाराज जनक के पुण्य की रक्षा के लिए धनुष का टूटना आवश्यक है। पहला कार्य तो बड़े भाई के द्वारा हो गया, अब यह दूसरा कार्य छोटा भाई कर दे!

इस प्रकार श्री लक्ष्मण उस महान् सत्य की ओर निर्देश कर रहे हैं, जहाँ पर ब्रह्म और शक्ति एक दूसरे से शाश्वत रूप से मिलित हैं। महाराज जनक इस सत्य का बोध श्री लक्ष्मण से प्राप्त करते हैं। यह विचित्र-सी बात है कि परशुराम और जनक दोनों प्रारम्भ में लक्ष्मणजी से असन्तुष्ट थे। परशुराम संसार के सबसे बड़े वीर थे और जनक सबसे बड़े ज्ञानी। परशुराम चाहते थे कि धनुष न टूटे और जनक चाहते थे कि धनुष टूटे। दोनों परस्पर विपरीत विचारधारा का पोषण करते दिखायी देते हैं, पर एक बात में दोनों एकमत हैं और वह है लक्ष्मणजी के विषय में। दोनों लक्ष्मणजी से सन्तुष्ट नहीं हैं। जनक को लगता है कि यह बालक मर्यादा का अतिक्रमण कर रहा है। जब लक्ष्मण सबके सामने जनक को फटकार देते हैं, तो जनक को लगता है कि इसने सबके सामने मुझे असम्मानित कर दिया, और परशुराम

तो बालक की धृष्टता से अतिशय रुष्ट हैं ही। जब लक्ष्मण परशुराम के विरुद्ध बोलने लगे, तब परशुराम ने तो कहा ही कि यह लड़का बड़ा अनुचित बोलता है, पर जनक भी बोल उठे--'मष्ट करहु अनुचित भल नाहीं' (१।२७७।४) --बस, चुप रहिए अनुचित बोलना अच्छा नहीं। यहाँ पर जनक और, परशुराम दोनों एकमत हैं, पर अन्त में दोनों ही अपने मत को परिवर्तित करने के लिए बाध्य हो जाते हैं। जनकजी स्वीकार करते हैं कि यदि लक्ष्मणजी न होते, तो हम दोनों सत्य से वंचित रह जाते। परशु-रामजी ने जाते जाते भगवान् राम को प्रणाम किया और वन्दना करते हुए केवल राम की ही स्तुति नहीं की, वरन् कहा--

अनुचित बहुत कहेउँ अग्याता।
छमहु छमामंदिर दोउ भ्राता॥ १।२८४।६

--'आप दोनों भाई अत्यन्त क्षमाशील हैं। हे राम, मैं केवल आपसे नहीं, बल्कि लक्ष्मण से भी क्षमा-याचना करता हूँ, जो अनजाने में मैं अनेक अनुचित शब्दों का प्रयोग कर बैठा।' जब परशुराम चले गये तो जनक अत्यन्त संकोच के साथ विश्वामित्र के पास आकर खड़े हो गये। भगवान् राम और श्री लक्ष्मण भी वहीं खड़े थे। जनकजी को स्मरण हो आया कि मैंने पहले कह दिया था कि यह बालक बड़ा अनुचित बोलता है। वे तुरन्त क्षमायाचना के स्वर में लक्ष्मण

को सुनाते हुए विश्वामित्रजी से धीरे कहते हैं
--'मोहि कृतकृत्य कीन्ह दुहुँ भाई' (१।२८५।६)--दोनों
भाइयों ने हमें कृतकृत्य किया। उन्हें कहना तो यह
चाहिए था कि श्री राम ने धनुष तोड़कर कृतकृत्य किया,
पर लक्ष्मण ने तो मेरी प्रतिष्ठा ही उतार डाली थी,
भरी सभा में मुझे अनादृत कर दिया था, पर वे कहते
हैं कि दोनों भाइयों ने मुझे कृतकृत्य किया है। इसका
अभिप्राय यह है कि भले ही कृतकृत्यता की भूमिका
श्री राम ने सम्पन्न की हो, पर यदि लक्ष्मण न होते,
तो शायद यह भूमिका आगे बढ़ ही नहीं पाती। इस-
लिए जनक श्री राम की अपेक्षा लक्ष्मणजी के प्रति
अधिक कृतज्ञता का अनुभव करते हैं, और उन्होंने इस
कृतज्ञता को व्यवहार में प्रदर्शित भी किया। उनके
कुल में जिन चार कन्याओं का विवाह हुआ, उनमें
लक्ष्मणजी के प्रति अर्पित की जानेवाली उर्मिला
जनकजी की ही कन्या थी। जनक को लगा कि मैं
ज्ञानी कहलाता हूँ, पर लक्ष्मण की भूमिका तो उससे
भी बहुत आगे है। मैं समझता था कि सृष्टि के सत्य
का, अध्यात्म तत्त्व का मुझे ज्ञान हो गया है, पर
लक्ष्मण ने मुझे बता दिया कि मैं शायद सत्य से
वंचित था, दूर था। जब लक्ष्मण बोल रहे थे, तो
मुझे लगा था कि वे आवेश में हैं, पर वस्तुतः वे इतने
संयत, इतने सुनियंत्रित थे, जिसकी तुलना नहीं हो
सकती। और सचमुच लक्ष्मणजी ने अपने आचरण से

वह दार्शनिक तत्त्व प्रकट किया, जो महाराज जनक भूल चुके थे।

वेदान्त में ब्रह्म का वर्णन प्रकाश के रूप में किया गया है, और प्रकाश की भूमिका किसी वृत्ति के रूप में नहीं होती, अतः ब्रह्म स्वभाव से सक्रिय नहीं होता। प्रकाशक की भूमिका केवल प्रकाश की होती है। प्रकाश में बैठकर यदि रामायण की चर्चा की जाय, तो प्रकाश कोई बढ़ावा नहीं देगा, और यदि उसमें बैठकर कोई गन्दा, अश्लील साहित्य पढ़े, तो वह कोई आपत्ति भी नहीं करेगा, क्योंकि ब्रह्म साक्षी-रूप से विद्यमान है--

जद्यपि सम नहिं राग न रोषू।
गहहिं न पाप पूनु गुन दोषू॥ २।२१८।३

अब ऐसे ब्रह्म की भूमिका को अपनी इच्छा के अनुरूप सम्पन्न कराना हो, तो उसमें प्रेरणा उत्पन्न करनी होगी। यह कठिन कार्य लक्ष्मणजी करते हैं। भगवान् राम में तो किसी बात के लिए अपनी कोई प्रेरणा है नहीं। वह तो लक्ष्मणजी हैं, जो अपने वचनों से उनमें प्रेरणा उत्पन्न करते हैं। गोस्वामीजी लिखते हैं कि लक्ष्मणजी के वचन सुनकर भगवान् राम पुलकित हो गये, उनके शरीर में रोमांच हो आया। अभिप्राय यह कि श्री राम में प्रेरणा का उत्स फूट गया। यदि ब्रह्म पहले से ही पुलकित हुआ होता, तो शायद सक्रिय होकर उठ खड़ा होता और धनुष टूट चुका

होता। पर श्री राम तो बैठे हुए हैं, और जनक निराश हो खड़े हैं। श्री राम में प्रेरणा उत्पन्न कर उन्हें उठाने का कार्य श्री लक्ष्मण सम्पन्न करते हैं और उनके द्वारा धनुष का भंजन करा जनक की निराशा दूर करते हैं।

संसार की भी ठीक यही दशा है। यह धनुषयज्ञ है क्या? यह धनुष अन्धकार का द्योतक है। इस धनुष के अन्धकार से प्रत्येक व्यक्ति दुःखी है। धनुष-यज्ञ में दो प्रकार की भूमिकाएँ प्राप्त होती हैं। एक भूमिका तो उनकी है, जो चाहते हैं कि अन्धकार दूर हो और दूसरी भूमिका उनकी है, जो अन्धकार को दूर करने बड़ी संख्या में आये हुए हैं। समाज में भी ये दो प्रकार की भूमिकाएँ हुआ करती हैं। एक तो वे हैं, जो दुःखी हैं, जो व्यग्र हैं कि दुःख दूर कैसे हो और दूसरे वे हैं, जो उपदेशक बनकर, प्रचारक बनकर, नेता बनकर, सुख देनेवाले की भूमिका लेकर उत्साहपूर्वक दुःख दूर करने के लिए सामने आते हैं। धनुषयज्ञ म जो दुःखी हैं, वे हैं जनकपुरवासी और जो दुःख दूर करनेवाले हैं, वे हैं हजारों राजा, जो यज्ञ में सम्मि-लित हुए हैं। दुःखी और दुःख दूर करनेवालों का समाज एकत्र हुआ है। पर अन्त में होता क्या है?

प्रातःकाल भगवान् राम ने लक्ष्मण से पूछा--लक्ष्मण, सूर्य निकल आया? लक्ष्मणजी ने उत्तर दिया--एक सूर्य तो निकल आया, पर दूसरा सूर्य

दो घण्टे बाद निकलेगा! प्रभु ने पूछा--यह दूसरा सूर्य कौन है और उसके द्वारा कौनसा अन्धकार दूर होगा? लक्ष्मणजी ने कहा--प्रभो, यह जो धनुष का अन्धकार है, वह आपकी भुजा के सूर्य के द्वारा दूर होगा। भगवान् राम ने लक्ष्मणजी की ओर आश्चर्य से देखा। कहा--लक्ष्मण, तुम यह कैसे कल्पना करते हो कि धनुष मेरे द्वारा ही टूटेगा? धनुष को तोड़ने की इच्छा लेकर तो हजारों राजा आये हुए हैं, यह भी तो सम्भव है कि मुझसे पहले धनुष को तोड़ने की चेष्टा कोई राजा करे और धनुष टूट जाय? लक्ष्मणजी कहते हैं--नहीं, महाराज, इनमें एक भी व्यक्ति ऐसा नहीं है, जो धनुष तोड़कर अन्धकार दूर करने आया हो। जो दुःखी हैं, वे भला दुःख को कैसे दूर कर सकेंगे, पर जो दुःख दूर करने आये हैं, वे भी कितना दुःख दूर कर पाएँगे यह विचारणीय है! लक्ष्मणजी का व्यंग्य यह था कि प्रभो, रात्रि को जब अन्धकार होता है, तब प्रकाश लेकर आनेवालों की संख्या क्या कम होती है? और दिन में आकाश पर दृष्टि डालिए तो आपको एक ही सूर्य दिखायी देगा। मतलब यह कि दिन में अन्धकार दूर करने की इच्छावाला एक और रात्रि में लाखों। पर विचित्र बात यह है कि रात के लाखों प्रकाशधर अन्धकार को दूर नहीं कर पाते, जबकि दिन का अकेला प्रकाशधर अन्धकार दूर कर देता है। तात्पर्य यह है कि रातवाले अन्धकार का दुःख दूर करने का

स्वाँग करते हुए भी वास्तव में दुःख दूर करने नहीं आते। चन्द्रमा, तारे, नक्षत्र ये अन्धकार में चमकते हैं, पर इनमें से किसी में सचमुच की इच्छा नहीं कि अन्धकार दूर हो जाय। क्यों? यदि आप चन्द्रमा और तारों से पूछ दें कि जब तुम लोग इतनी चमक लेकर आये हो, तो क्या सचमुच चाहते हो कि अँधेरा दूर हो जाय?——तो यदि वे अपने हृदय की बात कह सकें, तो यही कहेंगे कि भई, यदि अँधेरा ही मिट जाय, तो हम चमकेंगे कहाँ? इसलिए हम चाहते हैं कि अँधेरा बना रहे और हम चमकते रहें। इस प्रकार व्यक्ति दुःखी के दुःख का भी शोषण करता है। ऐसे जितने भी लोग हैं, वे दूसरों के दुःख से लाभ उठानेवाले हैं। तो, लक्ष्मणजी का अभिप्राय यह है कि प्रभो, अन्धकार दूर करने वस्तुतः केवल आप आये हैं, क्योंकि आप निःस्पृह हैं, आपको कुछ भी नहीं चाहिए। अन्य सब राजा लोग तो धनुष तोड़कर सीताजी को पाने आये हैं। श्री राम के सामने सीताजी को पाने की समस्या नहीं है, क्योंकि सीताजी तो उन्हीं की हैं। समस्या उन राजाओं के सामने है, जो सीताजी को पाना चाहते हैं। उनके तथा सीताजी के बीच में धनुष आ जाता है। राजाओं का बस चले, तो जनक की प्रतिज्ञा को बीच से हटा दें। पर लाचारी है। और प्रत्येक राजा इस धनुषरूप अन्धकार को दूर करने के लिए बहुत उत्साहित है। यदि कोई निरुत्साही बैठा हुआ है, तो

वह हैं भगवान राम। पुष्पवाटिका में सीताजी को देखकर वे अनुराग में डूब गये थे-- 'सिय मुख ससि भए नयन चकोरा' (१।२२९।३)--सीताजी के मुख-रूपी चन्द्रमा के लिए उनके नेत्र चकोर बन गये थे। सीताजी के आभूषणों की ध्वनि सुनकर उन्होंने लक्ष्मणजी से कहा था--

मानहुँ मदन दुंदुभी दीन्ही।
मनसा बिस्व बिजय कहँ कीन्ही ॥ १।२२९।२

--यह ध्वनि ऐसी आ रही है, मानो कामदेव ने विश्व को जीतने का संकल्प करके डंके पर चोट मारी है। सीताजी के शृंगार को देखकर वे बोल उठे थे--

सब उपमा कबि रहे जुठारी।
केहिं पटतरौं बिदेहकुमारी ॥ १।२२९।८

--सारी उपमाओं को तो कवियों ने जूठा कर रखा है, मैं जनकनन्दिनी सीताजी की उपमा किससे दूं ? और आज धनुषयज्ञ में जब जनक के बन्दीजनों ने घोषणा की कि जो धनुष तोड़ेगा, उसे सीताजी प्राप्त होंगी, तो भगवान् राम उस घोषणा को सुनकर भी शान्त भाव से अचल बैठे हुए हैं। अन्य राजागण कितने उत्साही दिखायी दे रहे हैं ! गोस्वामीजी उनके उत्साह को व्यक्त करने के लिए एक शब्द जोड़ देते हैं--'परिकर बाँधि'--कमर में फेंटा बाँधकर। श्री राम के लिए फेंटा बाँधने का उल्लेख वे नहीं करते। ये राजा कमर में फेंटा बाँध जो तमककर धनुष की ओर जा रहे हैं,

वह धनुष तोड़ने की कामना लेकर नहीं, अपितु सीताजी को पाने की कामना लेकर। और उनमें से प्रत्येक व्यग्र है कि मैं पहले पहुँचकर धनुष को तोड़ दूं, ताकि सीता मुझी को मिले। वे चलते समय अपने अपने इष्टदेवों को प्रणाम करते हैं--'चले इष्टदेवन्ह सिर नाई' (१।२४९।६), मानो उनसे प्रार्थना करते हैं कि धनुष के टूटने में हमारी सहायता करो। किसी ने गणेश को प्रणाम किया होगा, तो किसी ने शिव-पार्वती को, किसी ने लक्ष्मी को' तो किसी ने नारायण को। पर व्यंग्य यह है कि सबकी प्रार्थना व्यर्थ चली गयी। और क्यों न जाय ? गणेशजी का कोई एक ही भक्त तो होगा नहीं, हजारों भक्त होंगे। जो गणेश-भक्त धनुष के पास जा रहा है, वह मना रहा है कि धनुष टूट जाय, पर अन्य जितने गणेश-भक्त उम्मीदवार हैं, वे मनाते हैं कि प्रभो, देखना, धनुष टूटने न पाए। अब गणेशजी किसकी बात मानें ? एक की या अन्य हजारों की ? और जब उस एक से धनुष नहीं टूटा, तो वह लौटता हुआ गणेश से मनाता है कि मुझसे नहीं टूटा तो न सही, पर अब दूसरे किसी से भी टूटने न देना ! तात्पर्य यह है कि उन राजाओं में कोई भी धनुष को तोड़ने के लिए उतावला नहीं है। उनमें से प्रत्येक की माँग है कि धनुष टूटे तो मुझसे टूटे, अन्यथा किसी से भी न टूटे। सफलता मिले, तो मुझे मिले, नेतृत्व

मिले तो मुझे मिले, यश मिले तो मुझे मिले, अन्य किसी को मत मिले। यदि धनुषरूप अन्धकार समाप्त हो, तो मेरे द्वारा हो, नहीं तो अन्धकार बना रहे, कोई हर्ज नहीं। यही उन सबका मनोविज्ञान है। परिणाम यह होता है कि वे सारे असफल हो जाते हैं। अकेले श्री राम ही हैं, जो शान्त भाव से बैठे हुए सारा तमाशा देख रहे हैं। उनमें सीताजी को पाने की कोई कामना नहीं। पर धनुषरूप अन्धकार को तो समाप्त करना ही होगा। इसलिए यह आवश्यक है कि कोई उनमें धनुष को तोड़ने की प्रेरणा उत्पन्न करे। और यह महान् कार्य लक्ष्मणजी सम्पन्न करते हैं।

एक अर्थ में श्री लक्ष्मण श्री राम से भी महान् दिखायी देते हैं---श्री राम से अधिक निष्काम प्रतीत होते हैं। अब तक धनुष का भंजन चाहनेवाले दो प्रकार के लोग ही हमारे सामने आये थे---एक तो जनकपुरवासी थे, जिनका अपना कोई स्वार्थ नहीं था, और दूसरे थे वे राजागण, जो सीता को पाना चाहते थे, पर जिनमें सामर्थ्य नहीं थी। अब एक तीसरे व्यक्ति श्री लक्ष्मण के रूप में हमारे सामने आते हैं, जिनमें धनुष को तोड़ने की क्षमता है, पर जो उसके टूटने से मिलनेवाले फल को ग्रहण करने की इच्छा नहीं रखते। उनमें इतनी शक्ति है कि वे क्षण-भर में धनुष को तोड़ सकते हैं, पर न उन्हें शक्ति चाहिए, न सत्ता। वे तो केवल लोककल्याण के लिए

व्यग्र हैं, श्री राम को प्रेरित करने के लिए आतुर हैं। वे विरागी ब्रह्म को सक्रिय बनाने के लिए अपने अन्तर का अनुराग उसमें प्रेरित करते हैं। श्री राम का श्री सीता के प्रति अनुराग पुष्पवाटिका में लक्ष्मणजी के सामने प्रकट हुआ था। पर श्री लक्ष्मण के अन्तःकरण में भगवान् राम को छोड़ और किसी की कामना नहीं है। इसलिए जब वे अपना अनुराग श्री राम के अन्तःकरण में प्रेरित करते हैं, तो श्री राम सचमुच सक्रिय हो जाते हैं। भगवान् राम भी लक्ष्मण की निष्कामता के कायल हैं, वे लक्ष्मणजी को अपने आप से अधिक निष्काम मानते हैं।

अरण्यकाण्ड में एक प्रसंग आता है। सीता के वियोग में प्रभु आकुल हो गये। जब वन में वसन्त का आगमन हुआ, तो श्री राम को लगा कि कामदेव ही मानो सेना लेकर आक्रमण करने के लिए आ गया है। उन्होंने कहा——लक्ष्मण, कामदेव ने चढ़ाई करने का बड़ा उचित अवसर ढूँढ़ा। कामदेव ने पता लगा लिया कि मैं 'बिरह बिकल बलहीन' हूँ। जब तक सीता के रूप में शक्ति मेरे पास थी, तब तक काम को मुझ पर आक्रमण करने का साहस नहीं हुआ। पर अब जब उसे पता चल गया कि मैं शक्ति से रहित हूँ, तो मुझे बलहीन समझकर अपनी सेना को ले चढ़ाई करने आ गया। पर उसे साहस नहीं हुआ और मुझ पर बिना चढ़ाई किये वापस लौट गया। जानते हो, लक्ष्मण,

वह क्यों सेना लेकर वापस चला गया ?——

बिरह बिकल बलहीन मोहि जानेसि निपट अकेल।
सहित बिपिन मधुकर खग मदन कीन्ह बगमेल।। ३।३७(क)
देखि गयउ भ्राता सहित तासु दूतसुनि बात।
डेरा कीन्हेउ मनहुँ तब कटकु हटकि मनजात।। ३।३७(ख)

——उसने अपना दूत यह देखने भेजा था कि मेरे साथ कहीं मेरी शक्ति या मेरा कोई सहायक तो नहीं है। दूत ने आकर जब मुझे शक्ति के विरह में रोते, विलाप करते देखा, तो बड़ा प्रसन्न हुआ कि इसे हराना तो बड़ा सरल कार्य है। पर ज्योंही उसकी दृष्टि तुम पर पड़ी, वह घबरा गया और उसने जाकर काम-देव को सूचना दे दी कि उसके साथ तो उसका अनुज लक्ष्मण है। बस, क्या था, कामदेव इतना डर गया कि वह सेना को लौटाकर चला गया !

भगवान् राम का तात्पर्य यह है कि लक्ष्मण, मैं सीता के वियोग में इतना व्याकुल हो गया कि अपना विवेक खो बैठने की नौबत आ गयी, काम के सामने हार ही हो रही थी, पर तुम्हें देखकर काम स्वयं हार गया और मुझे छोड़कर चला गया। जब मैं अपने वियोग की ओर देखता हूँ, तो अपना विवेक खोने लगता हूँ, पर जब एक बार लौटकर तुम्हारी ओर देखता हूँ और सोचता हूँ कि देखो, दस दिन के वियोग में मेरी यह कैसी दशा हो गयी और तुम तेरह वर्षों से उर्मिला से अलग रहकर भी इतने प्रशान्त

बने हुए हो, तो मुझे लज्जा आने लगती है और तुम्हारा वैराग्य मुझे बचा लेता है। भगवान् राम लक्ष्मणजी की यह जो भावपूर्ण स्तुति करते हैं, उसमें कोई अतिशयोक्ति नहीं है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि रामायण में श्री राम की अपेक्षा जो अधिक निष्काम हैं, वे हैं श्री लक्ष्मण। उनकी निष्कामता बड़ी विचित्र है। आपको संसार में ऐसे व्यक्ति तो मिलेंगे, जो या तो सकाम हैं या निष्काम। पर ऐसा व्यक्ति जो अपने लिए तो निष्काम हो, पर दूसरे के लिए सकाम, संसार में अत्यन्त ही विरल है। लक्ष्मणजी ऐसे ही विरल व्यक्ति हैं। आपको ऐसे त्यागी और विरागी तो मिलेंगे, जो शृंगार-रस से दूर रहते हों, पर ऐसे विरागी जो शृंगार की भूमिका में भी नाक-भौं न सिकोड़ते हों, केवल लक्ष्मणजी हैं। ब्रह्मचारी के आठ लक्षण शास्त्रों मे गिनाये हैं, जिनमें विषय का चिन्तन, श्रवण और तत्सम्बन्धी भाषण वर्जित है। पर लक्ष्मणजी का ब्रह्मचर्य, उनका वैराग्य ऐसा विलक्षण है कि शृंगार-रस के बीच भी अछूता रहता है। 'रामचरितमानस' में श्री राम पर काम के आक्रमण के दो प्रसंग हैं---एक पुष्पवाटिका का और दूसरा, अरण्यकाण्ड का। एक में श्री राम और श्री सीता का मिलन है और दूसरे में उन दोनों का वियोग। और दोनों ही प्रसंगों में श्री लक्ष्मण दर्शक और श्रोता हैं। पुष्पवाटिका के प्रसंग में श्री राम कहते हैं---लक्ष्मण,

मुझे ऐसा लगता है कि कामदेव वाद्य बजाता हुआ आक्रमण .करने के लिए चला आ रहा है। और अरण्यकाण्ड के प्रसंगों में वे कहते हैं कि मुझे अकेला, शक्तिहीन, विरही और विकल जान कामदेव अपने सेनापति वसन्त को ले मुझ पर चढ़ाई करने आ रहा है। दोनों प्रसंगों में भगवान् राम संकेत से एक ही बात कहते हैं, पर लक्ष्मणजी की भूमिका दोनों जगह अलग अलग है। यह लक्ष्मणजी के चरित्र का वैशिष्टय है।

तो, मैं आपको संकेत दे रहा था कि गोस्वामीजी पुष्पवाटिका का प्रसंग उत्थापित करके यह चाहते हैं कि धनुष-भंग से पहले ही भगवान् राम और सीताजी के सहज सात्त्विक प्रेम को प्रकट कर दिया जाय। यह भाव की भूमि में भी आवश्यक है और दर्शन की भूमि में भी---दर्शन की भूमि में यह बताने के लिए आवश्यक है कि धनुष के टूटने के साथ ब्रह्म और शक्ति के विवाह का कोई सम्बन्ध नहीं और भाव की भूमि में यह प्रकट करने के लिए आवश्यक है कि जो प्रेम मर्यादा के मार्ग से आएगा, वह उत्कट नहीं होगा, मध्य कोटि का होगा। सहज प्रेम की उत्कटता बाग के माध्यम से प्रकट होगी, जब कि मर्यादा का प्रेम महल के माध्यम से उत्पन्न होगा। महल मर्यादा का प्रतीक है तथा वन और बाग उन्मुक्तता का। सहज प्रेम उन्मुक्त वातावरण में ही पनपता है, महल की

चहारदीवारी में नहीं। पर गोस्वामीजी भगवान् राम को महल में भी देखना चाहते हैं और बाग में भी। वे यह तो चाहते हैं कि भगवान् राम मर्यादा के माध्यम से, प्रतिज्ञा को पूर्ण करते हुए विवाह करें, पर साथ ही वे यह भी चाहते हैं कि श्रीराम और श्री सीता का जो सहजानुराग है, वह भी प्रकट हो। इसलिए उनके सामने समस्या आ खड़ी होती है कि श्रृंगार की भूमिका किस प्रकार लिपिबद्ध करें। गोस्वामीजी से पहले श्रृंगार-रस के इतने बड़े बड़े कवि हुए और उन लोगों ने श्रृंगार पर इतना लिखा कि गोस्वामीजी के सामने प्रश्न आ गया कि श्रृंगार-रस को वस्तुतः काव्य में किस स्थान पर रखा जाय? उस समय साहित्य में श्रृंगार-रस की ऐसी अधिकता थी कि देश पतन की ओर उन्मुख हो हो गया था। राजाओं के आश्रय में रहनेवाले कवियों ने अपने आश्रयदाताओं की प्रसन्नता के लिए श्रृंगार-रस की रचनाओं के द्वारा उन्हें शरीर और मांसलता की ओर, भोग और वासना की ओर ही प्रेरित किया था। भगवान् कृष्ण सम्बन्धी काव्य में भी, भक्तों को छोड़कर, कवियों का एक बहुत बड़ा वर्ग ऐसा था, जिसे श्रीकृष्ण के प्रति भक्ति नहीं थी, अपितु जिसने श्रृंगार के माध्यम से केवल अपनी वासना का समर्थन और प्रतिपादन किया था। इसीलिए गोस्वामीजी के समक्ष यह प्रश्न खड़ा हो गया कि श्रृंगार के बिना

काव्य कैसे होगा ? इस प्रश्न के समाधान के लिए उन्होंने एक नयी कल्पना की। उन्होंने निश्चय किया कि हम शृंगार-रस का वर्णन तो करेंगे, पर देहनगर में नहीं, अपितु विदेहनगर में। इसीलिए वे श्री राम के शृंगार की कल्पना अयोध्या या लंका में नहीं करते। विदेहनगर में करते हैं। इसका अभिप्राय यह है कि जो देह है, वह शृंगार को नीचे की ओर ले जाती है। जो वस्तु देह में घिर जाती है, वह छोटी हो जाती है। इसलिए गोस्वामीजी कहते हैं कि यदि शृंगार को पूर्ण होना है, तो उसे देह से ऊपर उठना होगा। इसीलिए वे एक बड़ी सुन्दर कल्पना करते हैं।

भगवान् राम जब सीताजी के सौन्दर्य का वर्णन करने के लिए उपमा खोजते हैं, तो सारे कवियों पर दोष मढ़ते हुए कह उठते हैं--

सब उपमा कबि रहे जुठारी।
केहि पटतरौं बिदेहकुमारी ।। १।२२९।८

--क्या कहें इन कवियों को, जिन्होंने सारी उपमाए देहकुमारियों के लिए खपा दीं, अब मैं विदेहकुमारी के लिए कौनसी उपमा लगाऊँ ! इस पर गोस्वामीजी कवियों की ओर से सफाई देते हुए कहते हैं--महाराज, सीताजी को देने के लिए मैं एक उपमा बनाना चाहता हूँ। किसी ने गोस्वामीजी से कहा--आप लक्ष्मीजी से उनकी तुलना कर दीजिए न। गोस्वामीजी बोले--नहीं, हम उस लक्ष्मी से सीताजी की तुलना

नहीं करेंगे, हम एक नयी लक्ष्मी का सृजन करेंगे। गोस्वामीजी से पूछा गया——यह नयी लक्ष्मी कैसी होगी ? गोस्वामीजी इसके उत्तर में समुद्र-मन्थन का रूपक लेते हैं। आप जानते होंगे कि जब समुद्र का मन्थन किया गया, तो मन्दराचल को मथानी बनाया गया और वासुकि नाग को रस्सी। जब देवताओं और दैत्यों ने मिलकर समुद्र को मथा, तो उसमें से चौदह रत्न निकले, जिनमें एक लक्ष्मीजी थीं। गोस्वामीजी कहते हैं कि वैसे लक्ष्मीजी स्वयं में तो बड़ी भोली हैं, पर समस्या यह है कि वे अपने दो भाई-बहनों से बड़ा प्रेम करती हैं, इसलिए हमें ये लक्ष्मीजी पसन्द नहीं——

बिष बारुनी बंधु प्रिय जेही।
कहिअ रमासम किमि बैदेही ॥ १।२४६।१

——उनका प्रिय भाई है विष और प्रिय बहिन है मद्य। मैं ऐसी लक्ष्मी चाहता हूँ, जिन्हें विष और वारुणी पसन्द न हों, जो उन्मादी न बनाएँ और मृत्यु की दिशा में न ले जाएँ। इसलिए गोस्वामीजी एक नयी लक्ष्मी प्राप्त करने के लिए एक अभिनव सृष्टि करते हैं। वे कहते हैं——समुद्र बदल दो, हमें खारा समुद्र नहीं चाहिए। हमें तो छबिरूपी अमृत का समुद्र चाहिए——'जौं छबि सुधा पयोनिधि होई' (१।२४६।७)। पहले के समुद्र मन्थन में कठोर मन्दराचल को मथानी बनाया गया था। वैसे मथानी को तो

हल्का होना चाहिए, क्योंकि यदि वह भारी हो, तो वह नीचे चली जायगी और सम्भव है पात्र को ही तोड़ दे। उससे मक्खन तो क्या निकलेगा, मूल तत्त्व ही नष्ट हो जायगा। इसलिए सावधानी बरतनी चाहिए कि मथानी बहुत भारी न हो। पर यदि वह बहुत हल्की हो गयी, तो भी समस्या रहेगी, वह नीचे तक पहुँचकर नहीं मथ पाएगी। इसलिए मन्दराचल को मथानी बना दिया गया, ताकि सागर के अन्तराल में प्रवेश करके वह उसे मथ सके। पर मन्दराचलरूप भारी मथानी को सम्हालने की समस्या आ खड़ी हुई। तब भगवान् ने कहा कि ठीक है, मैं कछुआ बनकर नीचे बैठ जाता हूँ और अपनी पीठ पर मन्दराचल को सम्हाल लेता हूँ, फिर आप मथानी चला लें। इससे मथानी नीचे नहीं जा पाएगी और रत्न निकल आएँगे। तो, यह तो पुराने समुद्र-मन्थन की मथानी हुई। अब इस नये समुद्र के मन्थन के लिए गोस्वामीजी मथानी किसकी बनाते हैं?—'मन्दर सिंगारू'—शृंगार-रस का मन्दराचल लाते हैं। इसका कछुआ कौन है?—'परम रूपमय कच्छपु सोई'—कछुआ तो वही श्री भगवान् ही रहेंगे, उसे नहीं बदलेंगे। और रस्सी?७—'सोभा रजु'—शोभा की रस्सी होगी, वासुकि नाग की नहीं। और इस समुद्र को मथेगा कौन?—'मथै पानि पंकज निज मारू'—स्वयं कामदेव अपने करकमलों से मथेगा। अब इस मन्थन से जो लक्ष्मी

उत्पन्न होंगी, उनकी तुलना हम सीताजी से करेंगे।

कैसी सजीव कल्पना है! गोस्वामीजी कहते हैं कि शृंगार-रस के बिना काव्य की सृष्टि में आनन्द नहीं आएगा। पर वे शृंगार-रस की तुलना मन्दराचल से, मथानी से करते हैं। यदि मथानी रस्सी के द्वारा बँधी न हो, तो गिर जायगी और मन्थन नहीं हो पाएगा। इसी प्रकार यदि शृंगार-रस को मर्यादा की रस्सी के द्वारा बाँधा न जाय, तो शृंगार उच्छृंखल हो जाएगा। कवियों ने यही भूल कर दी। वे शृंगार-रस तो ले आये, पर रस्सी नहीं लाये। फलतः उन्मुक्त शृंगार से समाज असन्तुलित हो गया। इसलिए गोस्वामीजी चाहते हैं कि शृंगार-रस के मन्दराचल को शोभा की रस्सी से आवेष्टित कर दिया जाय, जिससे वह शोभा के विरुद्ध न हो। और इससे भी बड़ा संकेत वे यह देते हैं कि लोगों को रस्सी और मथानी ये दोनों तो दिखायी दे रही हैं, पर नीचे आधार के रूप में जो कच्छप भगवान् हैं, वे नहीं दिखायी दे रहे हैं। अभिप्राय यह है कि जिस शृंगार-रस के आधार भगवान् नहीं होंगे, वह नीचे रसातल की ओर ही ले जाएगा। इस प्रकार—

एहि बिधि उपजै लच्छि जब सुंदरता सुख मूल। १।२४७

—इस मन्थन से जो लक्ष्मी उत्पन्न होंगी, उनकी तुलना सीताजी से की जा सकेगी।

इस तरह विदेहनगर की वाटिका में श्री राम

और सीता का मिलन होता है। इस श्रृंगार-रस के अनुभव में श्री राम अपने साथ जिन्हें ले जाते हैं, वे हैं श्री लक्ष्मण। वैसे तो श्रृंगार की अनुभूति-काल में किसी तीसरे व्यक्ति की आवश्यकता ही नहीं होती, पर गोस्वामीजी श्रृंगार-रस के वर्णन में श्री राम के साथ श्री लक्ष्मण का होना आवश्यक मानते हैं, जो वस्तुतः देह में स्थित होते हुए भी विदेह ही हैं। वे विराग के घनीभूत रूप हैं। वे ऐसे विलक्षण विरागी हैं, जो दूसरों को तो अनुराग का अर्पण करते हैं, पर स्वयं अनुराग के भोक्ता नहीं बनते।

•

मानव-वाटिका के सुरभित पुष्प

शरद् चन्द्र पेंढारकर, एम. ए.

(१) जहाँ सुमति तहँ सम्पति नाना

भगवान् बुद्ध का जब पाटलिपुत्र में शुभागमन हुआ, तो हर व्यक्ति अपनी अपनी साम्पत्तिक स्थिति के अनुसार उन्हें उपहार देने की योजना बनाने लगा। राजा बिम्बिसार उनके पास गया और उसने राज-कोष से लाये कीमती हीरे, मोती और रत्न उन्हें पेश किये। बुद्धदेव ने उन सबको एक हाथ से सहर्ष स्वीकार किया। इसके बाद मंत्रियों, सेठ-साहूकारों और अन्य धनी व्यक्तियों ने एक एक कर अपने अपने उपहार उन्हें अर्पित किये और बुद्धदेव ने उन सबको एक हाथ से स्वीकार किया।

इतने में ७०–८० बरस की एक बुढ़िया लाठी टेकते टेकते वहाँ आयी। उससे ठीक तरह से चलते भी नहीं बन रहा था। बुद्धदेव को प्रणाम कर वह बोली "भगवन् ! आपके आने का समाचार मुझे अभी अभी ही मिला। उस समय मैं यह अनार खा रही थी। मेरे पास कोई दूसरी चीज न होने के कारण मैं इस जूठे अधखाये फल को ही ले आयी हूँ। यदि आप मेरी इस तुच्छ भेंट को स्वीकार करें, तो मैं अहोभाग्य समझूँगी।" भगवान् बुद्ध ने दोनों हाथ सामने कर वह फल ग्रहण किया।

राजा बिम्बिसार को यह देख बड़ा आश्चर्य हुआ। उसने बुद्धदेव से प्रश्न किया, "भगवन् ! क्षमा

करें! एक प्रश्न पूछना चाहता हूँ। कृपया उसका समाधान करें। हम सबने आपको कीमती और बड़े बड़े उपहार दिये, जिन्हें आपने एक हाथ से ग्रहण किया, लेकिन इस बुढ़िया द्वारा दिये गये छोटे एवं जूठे फल को आपने दोनों हाथों से ग्रहण किया, ऐसा क्यों ?"

यह सुन बुद्धदेव मुसकराये और बोले, "राजन! आप सबने अवश्य बहुमूल्य उपहार दिये हैं, किन्तु यह सब आपकी सम्पत्ति का दसवाँ हिस्सा भी नहीं है। आप लोगों ने मूल्यवान् वस्तुओं का दान करके अपना बड़प्पन ही प्रकट किया है। आपने यह दान दीनों और गरीबों की भलाई के लिए नहीं किया है। इसलिए आपका यह दान 'सात्त्विक दान' की श्रेणी में नहीं आ सकता। इसके विपरीत इस बुढ़िया के पास देने के लिए कुछ न होते हुए भी उसने अपने मुँह का कौर ही मुझे दे डाला है। उसने तुच्छ भेंट क्यों न दी हो, सच्चे अन्तःकरण से दी है। भले ही यह बुढ़िया निर्धन है, लेकिन इसे सम्पत्ति की कोई लालसा नहीं है। इसी कारण यह तुच्छ वस्तु को ही अपनी सम्पत्ति समझती है और इसी में उसे सन्तोष है। यही कारण है कि इसके दान को मैंने खुले हृदय से—दोनों हाथों से स्वीकार किया है।"

(२) केहि कर हृदय क्रोध नहिं दाहा

एक बार तीर्थंकर महावीर पूर्व की ओर खड़े खड़े सूर्यदेव का आतप ले रहे थे। इतने में कुछ लोग

वहाँ आये। भगवान् महावीर को उस स्थिति में देख उन्हें हँसी आयी और उन्हें शरारत करने की सूझी। एक व्यक्ति ने उन पर धूल उड़ायी, किन्तु वे आतप में लीन रहे। इस पर दूसरे ने उन पर कंकड़ फेंके, किन्तु भगवान् ने उसकी ओर देखा तक नहीं। तीसरे ने उन पर थूका, लेकिन भगवान् शान्त ही खड़े रहे। यह देख वे आपस में कहने लगे, "अरे! यह कैसा आदमी है, थूकने पर भी इसे क्रोध नहीं आया, न ही इसने हमें भला-बुरा कहा।" तब दूसरा बोला, "यह तो कोई पागल मालूम होता है, या गूँगा।" तीसरा बोला, "यह तो कोई ढोंगी दिखायी देता है। मैं इसमें गुस्सा लाता हूँ।" और यह कह उसने उनके सिर पर बहुत सारी धूल फेंक दी, किन्तु इसका भी उस सन्त पुरुष पर कोई असर नहीं हुआ। तब उसने उन पर मुष्टि-प्रहार किया, किन्तु उन्हें शान्त खड़े देख उसने उन पर ढेले फेंके और पास में पड़ी हड्डियों की नोक उनके शरीर में चुभोने लगा। इसका भी कुछ असर न होता देख उसने उनपर भाले से प्रहार किया, लेकिन भगवान् की शान्ति भंग न हुई। वे आँखें बन्द किये मौन खड़े रहे। उनकी शान्त मुद्रा से प्रसन्नता टपक रही थी। अब तो उन सबको पश्चात्ताप हुआ कि उन्होंने व्यर्थ ही एक साधु पुरुष को तंग किया। वे उनके चरणों पर गिर पड़े और बोले "भगवन्! हमें क्षमा करें, हमने आपको अकारण ही कष्ट दिया।"

भगवान् महावीर तो अहिंसा के स्रोत थे। उन पर दुष्ट व्यवहार का कैसे असर हो सकता था? उन्होंने आँखें खोलीं और मुसकराकर क्षणभर के लिए उनकी ओर देखा। आत्मग्लानिवश वे लोग उनसे आँखें भी मिला न सके और दुःखी अन्तःकरण से वहाँ से चले गये।

(३) दया धर्म का मूल है

महाराष्ट्र के सन्त एकनाथजी के यहाँ श्राद्ध था। खीर-हलवा आदि पक्वान्न बने थे। उनकी मीठी सुगन्ध के कारण एक महार (अस्पृश्य) दम्पति वहाँ आ पहुँचा। उनके साथ एक छोटा बालक भी था। वह अपनी माता से बोला, "माँ! यहाँ तो बढ़िया पक्वान्न बने हैं और मुझे जोरों से भूख लगी है।" "पर बेटा, हमारे भाग्य में ये पक्वान्न कहाँ हैं? ये तो ब्राह्मणों के लिए होंगे। हमें तो बचा-खुचा ही मिलेगा।"

ये शब्द सुनते ही एकनाथजी का हृदय द्रवित हो उठा। उन्होंने सोचा, "हरिजन हरि के भक्त होते हैं और सबका शरीर भगवान् का मन्दिर है। यदि इन्हें ही भोग लगाया जाए, तो क्या वह भगवान् को भोग लगाना नहीं होगा?" और उन्होंने पत्नी से उस दम्पति को भोजन परोसने के लिए कहा। पत्नी गिरिजाबाई पति के समान ही धर्मपरायणा थी। उसने महार-दम्पति को पेटभर भोजन परोसा और पान-सुपारी देकर उन्हें विदा किया।

एकनाथजी ने अपनी पत्नी से उस स्थान पर जल छिड़कने और दूसरा भोजन बनाने के लिए कहा। किन्तु महार-दम्पति द्वारा भोजन करने की बात जब ब्राह्मणों को मालूम हुई, तो उन्होंने भोजन करना अस्वीकार कर दिया। एकनाथजी ने उन्हें बताया कि उन्होंने उस महार-दम्पति को भूखे होने के कारण ही भोजन कराया था। वह भोजन उच्छिष्ट हो जाने के कारण अब उन्होंने दूसरा भोजन बनाया है। किन्तु काफी अनुनय-विनय करने पर भी ब्राह्मण न माने और उन्होंने भोजन का बहिष्कार कर दिया।

एकनाथजी बड़े दुःखी हुए कि ब्राह्मण बिना भोजन किये ही चले गये। तब उनके एक सम्बन्धी ने उनसे कहा," आपने यह भोजन तो पितरों के लिए वनाया था, न कि ब्राह्मणों के लिए, इसलिए आप क्यों दुःखी होते हैं? आप अपने पितरों को ही सीधे क्यों आमंत्रित नहीं करते ?" बात एकनाथजी को जँच गयी और उन्होंने पत्नी से पत्तल लगाने के लिए कहा। भोजन परोसे जाने पर उन्होंने पितरों से आगतम्' कहा और लोगों को यह देख आश्चर्य हुआ 'कि उनके पितर सूर्यनारायण, चक्रपाणि और भानुदास वहाँ आ गये और उन्होंने अपने अपने आसन पर बैठकर भोजन किया तथा तृप्त हो एवं आशीर्वाद दे वे अन्तर्धान हो गये। यह बात जब उन ब्राह्मणों को मालूम हुई, तो उन्हें अपने किये पर पश्चात्ताप हुआ

और उन्होंने एकनाथजी से क्षमा माँगी।

(४) दादू एकै आतमा साहिब है सब माँहि

सिखों के सप्तम गुरु हररायजी के दर्शन के लिए अनेक लोग आते थे। एक बार एक तुर्की उनके पास आया और उसने उनसे प्रश्न किया, "मोअज्जिज ! इस संसार में मुहम्मद साहब, हजरत पैगम्बर, हजरत मूसा जैसे अनेक पैगम्बर हो गये हैं और उन्होंने खुदा से मिलने के अलग अलग रास्ते बताये हैं। हमें उनमें से किस पैगम्बर का हुक्म मानना चाहिए, जिससे हमें खुदा मिल सके ?"

गुरुजी ने उत्तर दिया, "ईश्वर तो एक है, उसके रूप अवश्य अनेक हैं। वह सर्वव्यापी है, निराकार है, निरंजन है। धर्मगुरुओं ने उसके पास पहुँचने के अलग अलग रास्ते क्यों न बताये हों, हमें तो अपने कर्मों की ओर ध्यान देना चाहिए। उसके पास पहुँचने के लिए किसी की मदद की जरूरत नहीं। वह कोई दुनियाँवी हुक्मराँ नहीं, जो किसी की सिफारिश सुनकर किसी की तरफदारी करे। वह दूर से दूर और पास से पास है और इन्सान नेक काम करके ही उसे पा सकता है।"

(५) बुभुक्षित: किं न करोति पापम्

एक बार हजरत उमर जब मस्जिद में तशरीफ लाये, तो देखा कि एक आदमी लोगों को जिहाद के लिए उकसा रहा है। हजरत ने जान लिया कि

निश्चय ही इस आदमी की आर्थिक स्थिति अच्छी नहीं होगी और इस कारण वह जिहाद के लिए मजबूर हो गया है, क्योंकि गरीबी ही मनुष्य को विद्रोह और पाप करने को विवश करती है। यदि देश में अर्थसंकट है, और भूख की ज्वाला को बुझाया न जाए और वैसे ही सुलगने दिया जाए, तो एक दिन वह समूचे देश को भस्मसात् कर सकती है।

हजरत उसके पास गये और उन्होंने उसे शान्त होने के लिए कहा। फिर उपस्थित लोगों से उन्होंने पूछा, "क्या आपमें से कोई इसे नौकरी दे सकता है?" एक व्यक्ति द्वारा हामी भरने पर उन्होंने उसे उस व्यक्ति के हवाले कर दिया।

कुछ दिनों बाद उन्होंने उस व्यक्ति के बारे में पूछताछ की तो पता चला कि उसकी आर्थिक स्थिति अब अच्छी है। वे उसके पास गये और उससे बोले, "उस दिन तुम भूखे थे, इसीलिए मैंने तुम्हें लोगों को जिहाद के लिए उकसाने से रोका था। आज तुम्हारी हालत अच्छी है। अब तुम जिहाद कर सकते हो या इन्सानी फराइज अदा कर सकते हो या अपने बच्चों की परवरिश कर सकते हो। इसके अब तुम्हीं खुद-मुख्तार हो।" उस व्यक्ति ने उनसे क्षमा माँगी और उनकी नेक सलाह के लिए उन्हें धन्यवाद दिया।

●

तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता

(गीताध्याय २, श्लोक ५४-५८)

स्वामी आत्मानन्द

(आश्रम के रविवासरीय सत्संग में प्रदत्त व्याख्यान)

अर्जुन उवाच—

स्थितप्रज्ञस्य का भाषा समाधिस्थस्य केशव।
स्थितधीः किं प्रभाषेत किमासीत व्रजेत किम् ॥ ५४ ॥

"अर्जुनः (अर्जुन) उवाच (बोला)—केशव (हे केशव) स्थितप्रज्ञस्य (स्थितप्रज्ञ व्यक्ति का) समाधिस्थस्य (समाधि में स्थित रहनेवाले का) का (क्या) भाषा (वर्णन, लक्षण) स्थितधीः (स्थिर बुद्धिवाला) किं (कैसे) प्रभाषेत (बातें करता है) किम् (कैसे) आसीत (बैठता है) किं (कैसे) व्रजेत (चलता है)।

अर्जुन ने पूछा—हे केशव! समाधि में स्थित स्थितप्रज्ञ व्यक्ति के लक्षण क्या हैं? वह स्थिर बुद्धिवाला पुरुष किस प्रकार बातें करता है, कैसे बैठता है और कैसे चलता है?"

पिछली चर्चा में हमने कहा था कि अर्जुन ऐसे व्यक्ति को देखना चाहता है, जिसके जीवन में समत्व-रूप बुद्धियोग प्रतिष्ठित हो चुका है। उसने श्रीकृष्ण से अनामय पद का वर्णन सुना, यह भी सुना कि बुद्धियुक्त, फलत्यागी, मनीषी जन्म-मृत्यु के बन्धन को काटकर मुक्त हो जाता है। उसने यह भी जाना कि जब बुद्धि मोह के दलदल को पार कर जाती है तब व्यक्ति पूर्णतः निरपेक्ष हो जाता है, बड़े से बड़ा प्रलोभन भी उसकी वैराग्य-निष्ठा को नहीं डिगा

पाता, और वह बुद्धि की निश्चलता एवं अचलता को प्राप्त कर योग में स्थित हो जाता है। उसे बड़ा कुतूहल हुआ कि ऐसा व्यक्ति किस प्रकार का होता होगा। अर्जुन ने पहले अपने को ज्ञानी समझ लिया था। उसके अन्तःकरण में कौरवों के लिए करुणा उपजी थी और वह युद्ध जैसे घोर हिंसक कर्म से विरक्ति का अनुभव करने लगा था। पर भगवान् ने उसे अज्ञानी कह दिया था, कहा था—'प्रज्ञावादांश्च भाषसे'—ज्ञानियों के समान तो बात करते हो, पर आचरण अज्ञानियों का-सा है। तो, अर्जुन अब यह देखना चाहता है कि ज्ञानियों का आचरण कैसा होता है।

उसने श्रीकृष्ण से स्थितप्रज्ञ के आभ्यन्तर और बाह्य दोनों प्रकार के लक्षण पूछ लिये। व्यक्ति यदि अपनी स्थितप्रज्ञता को कसौटी पर कसना चाहे, तो वह आभ्यन्तर लक्षणों की आवश्यकता अनुभव करेगा और यदि दूसरे की स्थितप्रज्ञता को परखना चाहे, तो उसे बाह्य लक्षणों को जानना होगा। इस प्रकार बाह्य और आभ्यन्तर दोनों लक्षणों के परिज्ञान के साधक अपने और दूसरे के ज्ञान की परीक्षा कर सकेगा एवं अपनी कमी दूर कर सकेगा।

इसकी दूसरी व्याख्या यह भी की जाती है कि स्थितप्रज्ञ पुरुष जब समाधिस्थ हो, अर्थात् पूरी तरह ध्यान में निमग्न हों, तब उसके क्या लक्षण होते हैं, और जब समाधि छोड़कर वह व्युत्थान की दशा

में व्यवहार की ओर झुका हुआ होता है, तब क्या लक्षण होते हैं। उसकी बोलना, बैठना, चलना आदि बाह्य क्रियाएँ कैसी होती हैं? वह लोगों से किस प्रकार व्यवहार करता दिखायी देता है?

शंकराचार्य अपने 'गीताभाष्य' में लिखते हैं—'सर्वत्र एव हि अध्यात्मशास्त्रे कृतार्थलक्षणानि यानि तानि एव साधनानि उपदिश्यन्ते यत्नसाध्यत्वात्। यानि यत्नसाध्यानि साधनानि लक्षणानि च भवन्ति तानि'—अर्थात्, 'अध्यात्मशास्त्र में सभी जगह कृतार्थ पुरुष के जो लक्षण होते हैं, वे ही यत्न द्वारा साध्य होने के कारण (दूसरों के लिए) साधनरूप से उपदिष्ट होते हैं। जो यत्नसाध्य साधन होते हैं, वे ही (सिद्ध पुरुष के स्वाभाविक) लक्षण होते हैं।' इस दृष्टि से अर्जुन ने स्थितप्रज्ञ के जो लक्षण पूछे, वह इसीलिए कि वे लक्षण साधकों के लिए साधनस्वरूप बनकर उनका मार्गदर्शन करेंगे। सिद्ध पुरुषों के लक्षण हमारे लिए लक्ष्य होते हैं और हम उनके प्रकाश में अपने साधनात्मक जीवन का गठन करते हैं, अपने आपको उनके समान बनाने का प्रयत्न करते हैं।

'स्थितप्रज्ञ' वह है, जिसकी प्रज्ञा—बुद्धि—प्रतिष्ठित हो चुकी है, ऐसी बुध्दि जो डिगती नहीं, अविचलित रहती है और सदा ब्रह्म में, आत्मा में केन्द्रित रहती है। ब्रह्म ही उस बुद्धि की प्रतिष्ठा होता है। 'समाधिस्थ' समाधिवान् पुरुष को कहते हैं,

जिसने समाधि में आत्मा की अनुभूति कर ली है। 'स्थितधी' वह है, जिसकी बुद्धि का विचलन समाप्त हो गया है। स्थितप्रज्ञ और स्थितधी समानार्थी शब्द हैं। भगवान् ने सांख्य और योग दोनों मार्गों में स्थिरबुद्धि को सर्वश्रेष्ठ माना है। उसे उन्होंने व्यवसायात्मक बुद्धि भी कहकर पुकारा है, जिस पर विवेचन किया जा चुका है।

सामान्यत: 'भाषा' शब्द का अर्थ भाषण या वक्तृत्व होता है, पर उसका यह अर्थ यहाँ अभिप्रेत नहीं है। यहाँ तो लक्षण, भाष्य, व्याख्या आदि अर्थों में ही वह प्रयुक्त हुआ है।

'केशव' वह है, जो ब्रह्मा, विष्णु और शिव तीनों का नियमन करता है। 'कश्च अश्च ईशश्च केशाः तानि वयते प्रशास्ति'—ब्रह्मा, विष्णु और शिव ये केश हैं, इनका जो प्रशासक है, वह परमात्मा केशव है।

'प्रभाषेत', 'आसीत और 'व्रजेत' के द्वारा अर्जुन यह नहीं पूछना चाहता कि वह स्थिरबुद्धि पुरुष किस भाषा में बात करता है, उसका बात करने का लहजा कैसा है; वह कैसे बैठता है—बैठते समय किस आसन का उपयोग करता है, अथवा यह कि वह कैसे चलता है—लँगड़ाकर या केसरी के समान? अर्जुन यह जानना चाहता है कि जिस पुरुष ने समाधि में आत्मा का अनुभव कर लिया और जो सारे

सांसारिक विषय-भोगों के आकर्षण से मुक्त हो गया, वह दुनिया में रहते हुए किस प्रकार वर्तन करता है? सामान्यतः हमारी क्रियाओं के मूल में हमारी कामनाएँ ही हुआ करती हैं, पर जिस पुरुष की कामनाएँ समाप्त हो चुकीं, वह अपनी क्रियाओं की प्रेरणा कहाँ से पाता है? उसके और सामान्य व्यक्ति के वर्तन में कितना और किस प्रकार का अन्तर होता है? क्या स्थितप्रज्ञ पुरुष को देखते ही समझ में आ जाता है कि वह स्थितप्रज्ञ है? जब वह समाधि में रहता है, तो किन लक्षणों से जाना जाय कि वह समाधि-अवस्था खरी है? जीवन में कई ढोंगी व्यक्ति भी समाधिवान् और स्थितप्रज्ञ होने का दावा किया करते हैं। ऐसी दशा में ऐसी कोई कसौटी है क्या, जिस पर स्थितप्रज्ञता और समाधि के लक्षणों को कसा जा सके? स्वयं अपने जीवन में भी व्यक्ति कभी कभी ऐसा अनुभव करता है कि उसने स्थितप्रज्ञता प्राप्त कर ली, उसे समाधि का अनुभव हो गया, पर देखा जाता है कि ऐसा अनुभव गलत ही था। तो कैसे पहचाना जाय कि ये लक्षण सही हैं या गलत?

अर्जुन के इन प्रश्नों का उत्तर श्रीकृष्ण अगले श्लोकों में प्रदान करते हैं। उन श्लोकों में स्थितप्रज्ञता का एक ही साधन भगवान् नहीं बताते, अपितु यह संकेत करते हैं कि विभिन्न साधनों से यह स्थितप्रज्ञता प्राप्त हुआ करती है। व्यक्ति व्यक्ति की

वृत्ति में अन्तर हुआ करता है। किसी को योग का अभ्यास अच्छा लगता है, तो कोई भक्ति का रास्ता पसन्द करता है। कोई विचार-विवेक का मार्ग अपनाता है, तो कोई निष्काम कर्मयोग के माध्यम से परम लक्ष्य तक पहुँचना चाहता है। फलस्वरूप स्थितप्रज्ञता प्राप्त करने के साधन भिन्न भिन्न हो जाते हैं। उदाहरणार्थ, पचपनवें श्लोक में बताया गया कि स्थितप्रज्ञता आत्मतुष्टि से प्राप्त होती है। छप्पनवें श्लोक में उसकी प्राप्ति का उपाय सुख-दुःख से उपरामता को बताया गया है। सत्तावनवें श्लोक में बुद्धि का समत्व और अट्ठावनवें में इन्द्रिय-भोगों का उपसंहार उसकी प्राप्ति के उपाय के रूप में निर्दिष्ट हुआ है।

श्रीभगवानुवाच—

प्रजहाति यदा कामान् सर्वान् पार्थ मनोगतान्।
आत्मन्येवात्मना तुष्टः स्थितप्रज्ञस्तदोच्यते ॥ ५५ ॥

श्रीभगवान् (श्रीभगवान्) उवाच (बोले)—पार्थ (हे पार्थ) यदा (जब) आत्मनि एव (अपने में ही) आत्मना (अपने द्वारा) तुष्टः (सन्तुष्ट होकर) सर्वान् (समस्त) मनोगतान् (मन में प्रविष्ट) कामान् (कामनाएँ) प्रजहाति (त्याग देता है) तदा (तब) स्थितप्रज्ञः (स्थितप्रज्ञ) उच्यते (कहा जाता है)।

"श्रीभगवान् बोले—हे पार्थ, जब व्यक्ति अपने में ही अपने द्वारा सन्तुष्ट होकर मन में पैठी हुई समस्त कामनाओं को त्याग देता है, तब उसे स्थितप्रज्ञ कहते हैं।"

यहाँ पर स्थितप्रज्ञ के आभ्यन्तर लक्षण कहे गये हैं, क्योंकि मन की कामनाएँ नष्ट हुई हैं या नहीं, मनुष्य अपने आप में ही सन्तुष्ट है या नहीं, यह तो स्वसंवेद्य है। हम स्वयं अपनी स्थिति जान सकते हैं। बाहर का व्यक्ति मेरे सम्बन्ध में यह नहीं बता सकता कि मैं कामनाओं से ऊपर उठ गया हूँ या नहीं। यहाँ पर स्थितप्रज्ञता के दो लक्षण बताये गये——समस्त मनोगत कामनाओं का नाश तथा अपने आप में ही सन्तुष्ट होना। ये दोनों लक्षण एक दूसरे के परिपूरक हैं। जब मनुष्य में कोई कामना नहीं रह जाती, तभी वह अपने आप में सन्तुष्ट रह पाता है। इसी प्रकार जो व्यक्ति अपने आप में सन्तुष्ट है, उसे अपने से भिन्न अन्य किसी वस्तु का प्रयोजन नहीं होता और जिसे किसी की आवश्यकता नहीं, उसके मन में कामना कैसे उत्पन्न हो सकती है? इच्छा तो वहीं पैदा होती है, जहाँ अभाव है। सन्तोष और अभाव विरोधी वृत्तियाँ हैं। यह व्याख्या 'काम' शब्द का अर्थ 'कामना' या 'इच्छा' लेते हुए की गयी है।

'काम्यन्ते इति कामाः'——'जिनकी इच्छा की जाय, वे काम हैं' इस व्याख्या के अनुसार 'काम' का अर्थ 'विषय' होता है, क्योंकि विषयों की ही इच्छा की जाती है। इसके अनुसार पद का अर्थ हुआ कि मन में जो विषय समाये हुए हैं, उनको जब त्याग दिया जाता है, तब स्थितप्रज्ञता प्राप्त होती है। विषयों के

कारण ही बुद्धि स्थिर नहीं हो पाती। मन इन विषयों को बुद्धि के पास ले जाता है, फलस्वरूप बुद्धि में विचलन पैदा होती है। जब तक मन जाकर इन्द्रियों से नहीं जुड़ता, तब तक इन्द्रिय-विषय-संयोग नहीं हो पाता। जैसे, हम किसी मनोरंजक रचना को पढ़ते हुए उसका आनन्द ले रहे हैं। इतने में कोई 'कालबेल' बजाता है। घण्टी बजती है और हमारी कर्णेन्द्रिय तक आकर बराबर टकराती है, पर हमारा मन पढ़ने में लगा रहने के कारण कर्णेन्द्रिय से युक्त नहीं हो पाता। फलस्वरूप हमें घण्टी सुनायी नहीं देती। इसी प्रकार प्रत्येक ज्ञानेन्द्रिय के लिए यह सत्य लागू होता है। मन जब तक किसी इन्द्रिय से युक्त नहीं होता, उस इन्द्रिय का अपने विषय से तादात्म्य स्थापित नहीं होता। जब इन्द्रियविशेष से जुड़ा हुआ मन बुद्धि के पास उसके विषय को पहुँचाता है, तभी बुद्धि में विक्षोभ होता है और वह स्थिर नहीं हो पाती। तो, बुद्धि की स्थिरता के लिए आवश्यक है कि मन उसके पास विषयों को न ले जाय और इसके लिए मन का इन्द्रियों से दूर रहना आवश्यक है। मन की इन्द्रियों से दूरी तभी सम्भव है, जब उसमें रहनेवाली कामनाएँ नष्ट हो जायँ और कामनाओं का नाश तभी होता है, जब व्यक्ति अपने आप में ही सन्तुष्ट रहे।

कुछ व्याख्याकार 'काम' का अर्थ 'मनोवृत्ति' भी करते हैं। वे 'सर्वान् कामान्' से पाँच प्रकार की

मनोवृत्तियाँ लेते हैं, जिनके सम्बन्ध में पतंजलि के योगसूत्रों में (१।६) कहा गया है। सारी मनोवृत्तियों को महर्षि पतंजलि ने पाँच प्रकारों में बाँटा है— प्रमाण, विपर्यय, विकल्प, निद्रा और स्मृति। प्रमाण के भी प्रत्यक्ष, अनुमान, आगम आदि भेद हैं। विपर्यय का अर्थ है उल्टा या मिथ्या ज्ञान, जैसे रस्सी में सर्प-बोध। विकल्प वह है, जो शब्द के रूप में तो विद्यमान है पर वस्तुतः अस्तित्व में नहीं है, जैसे वन्ध्या-पुत्र। 'वन्ध्या-पुत्र' शब्द का अर्थ है बाँझ का लड़का। यह शब्द तो है, पर बाँझ के लड़के का अस्तित्व नहीं है। निद्रा अभाव-सूचक वृत्ति है, वह ज्ञान का अभाव सूचित करती है। स्मृति वह है, जिससे अनुभव किये पदार्थों का स्मरण होता है। तो, ऐसी पाँच मनोवृत्तियों का जब अभाव हो जाय, तो व्यक्ति समाधिस्थ हो जाता है और ऐसी अवस्था को प्राप्त हो जाता है, जहाँ वह अपनी सन्तुष्टि के लिए अपने से भिन्न अन्य किसी वस्तु की आकांक्षा नहीं करता। वही स्थितप्रज्ञता की अवस्था है। चित्तरूपी सरोवर में जब तक एक भी वृत्तिरूप लहर शेष है, तब तक व्यक्ति असम्प्रज्ञात समाधि में नहीं जा पाता।

यहाँ 'काम' का विशेषण दिया 'मनोगत'। वैसे तो सभी कामनाएँ मनोगत ही होती हैं, पर इसका तात्पर्य उन कामनाओं से है, जो मन की गहराई में पैठी हुई हैं। उन कामनाओं का तो हम अनुभव

करते हैं, जो उठती और शान्त होती रहती हैं, पर जो कामनाएँ मन की किसी गहराई में संचित हैं, उन्हें सामान्यतः पकड़ना कठिन होता है। मन की चेतन, अवचेतन, अचेतन और अतिचेतन इन चार अवस्थाओं में प्रथम तीन का अनुभव तो हम प्रतिदिन करते हैं, पर चौथी अवस्था जिसे तुरीय, निर्विकल्प या असम्प्रज्ञात समाधि इत्यादि नामों से पुकारा गया है, अपनी अनुभूति के लिए साधन की अपेक्षा रखती है। मनोगत कामनाएँ अवचेतन अवस्था में प्रकट होती हैं। जैसे चेतन जाग्रतावस्था है, वैसे ही अवचेतन स्वप्नावस्था और अचेतन सुषुप्ति की अवस्था है। मनोगत कामनाएँ मन की अवचेतन और अचेतन अवस्थाओं में सोयी रहती हैं। जाग्रत् अवस्था में दिखायी न देते हुए भी ये कामना के संस्कार हमें स्वप्नावस्था में दिखायी देते हैं। मनोगत कामनाएँ नष्ट हुई हैं या नहीं इसे जानने की कसौटी स्वप्नावस्था है। साधक जाग्रत् अवस्था में अपने विवेक के बल पर भले ही मन को इन्द्रिय-भोगों से दूर कर ले, पर यदि उसके मन में कामनाएँ मिटी नहीं होंगी, तो वह सपने में विषय-भोगों का सेवन करेगा। किन्तु जिस दिन साधन-बल से वह मनोगत कामनाओं को दूर कर लेगा, उस दिन सपने में भी वह अपने को इन्द्रिय-भोगों से सर्वथा अलिप्त अनुभव करेगा।

इसी प्रकार, मनोगत कामनाएँ ध्यान की अवस्था

में भी अपने को प्रकट किया करती हैं। जैसे जैसे व्यक्ति का ध्यान प्रगाढ़ होता है, उसमें निहित कामना-संस्कार बुलबुले के समान ऊपर उठते हैं—अवचेतन स्तर से चेतन स्तर पर आते हैं और ध्यान में विक्षेप पैदा करते हैं। हम पढ़ते हैं कि भगवान् बुद्ध को बोधि-प्राप्ति के पूर्व 'मार' का सामना करना पड़ा था। यह 'मार' मनोगत कामनाओं का ही प्रतीक है। सम्यक् ध्यान की प्रक्रिया हमारे अन्तस्तल के कोने कोने को धोती है। इस धोने की प्रक्रिया में हमारे मन में छिपी कामनाएँ प्रकट होती हैं। जिस समय निरन्तर ध्यानाभ्यास से ध्यान का विक्षेप दूर हो जाता है, तो समझ लेना चाहिए कि मनोगत कामनाएँ दूर हो गयी हैं। ऐसा व्यक्ति स्थितप्रज्ञता को प्राप्त होता है। मनोगत कामनाओं के दूर होने की कसौटी यह है कि व्यक्ति अपने आप में ही सन्तुष्ट रहता है, उसे अपने आनन्द के लिए अपने से भिन्न अन्य किसी व्यक्ति या वस्तु की अपेक्षा नहीं रहती। यही 'आत्मन्येवात्मना तुष्टः' की स्थिति है।

ज्ञानमार्गी श्लोक के उत्तरार्ध में आये दोनों 'आत्मा' शब्दों का अर्थ आत्मतत्त्व से लेता है। उसके अनुसार उस वाक्यांश का अर्थ होता है—'आत्मा में ही आत्मा से सन्तुष्ट हुआ'। जिसके लिए आत्मतत्त्व को छोड़ और कुछ नहीं है, वह उसी में सन्तुष्ट रहता है, अपने स्वरूप में ही रमा रहता है। भक्तिमार्गी

'आत्मनि' का अर्थ 'परमात्मा में' लेते हैं, इसलिए उनके अनुसार वाक्यांश का अर्थ हुआ 'मन से परमात्मा में ही सन्तुष्ट हुआ'। ज्ञानमार्गी के लिए 'काम' को वृत्ति के अर्थ में लिया जा सकता है और इस प्रकार ज्ञानी के समाधिस्थ होने का तात्पर्य उस निर्विकल्पक या असम्प्रज्ञात समाधि में जाना है, जिसमें समस्त मनोवृत्तियाँ लीनता या नाश को प्राप्त होती हैं। इसी प्रकार भक्तिमार्गी के सन्दर्भ में 'काम' का अर्थ 'कामना' या 'इच्छा' लिया जा सकता है और उसके समाधिस्थ होने का तात्पर्य सविकल्पक या सम्प्रज्ञात समाधि में स्थित होना है, जहाँ कामनाओं का विलय हो जाता है।

प्रस्तुत श्लोक में भगवान् ने स्थितप्रज्ञ के भीतरी लक्षण बताये, जो स्वसंवेद्य हैं; अब आगे के तीन श्लोकों में वे उसके बाहरी लक्षण बतलाते हैं, जो दूसरों को भी दिखायी पड़ते हैं। इन बाह्य लक्षणों के द्वारा भगवान् ने अर्जुन के उन प्रश्नों का उत्तर भी दे दिया, जिनमें अर्जुन ने पूछा था कि स्थिरबुद्धि पुरुष कैसे बोलता है, कैसे बैठता है, आदि।

दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः सुखेषु विगतस्पृहः।
वीतरागभयक्रोधः स्थितधीर्मुनिरुच्यते ॥ ५६ ॥
यः सर्वत्रानभिस्नेहस्तत्तत्प्राप्य शुभाशुभम्।
नाभिनन्दति न द्वेष्टि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥५७॥
यदा संहरते चायं कूर्मोऽङ्गानीव सर्वशः।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥ ५८ ॥

दुःखेषु (दुःखों में) अनुद्विग्नमनाः (जिसका मन उद्विग्न नहीं होता) सुखेषु (सुखों में) विगतस्पृहः (जिसकी स्पृहा नष्ट हो चुकी है) [ऐसा] वीतरागभयक्रोधः (आसक्ति, भय और क्रोध से रहित) मुनिः (मुनि) स्थितधीः (स्थिरबुद्धि, स्थितप्रज्ञ) उच्यते (कहा जाता है)

"जिसका मन दुःखों में उद्विग्न नहीं होता और सुखों के प्रति जिसकी स्पृहा नष्ट हो चुकी है, ऐसे आसक्ति, भय और क्रोध से रहित व्यक्ति को स्थितप्रज्ञ मुनि कहा जाता है।"

यः (जो) सर्वत्र (सभी विषयों में) अनभिस्नेहः (आसक्ति-शून्य है) तत् तत् (उन उन) शुभ-अशुभं (अच्छे या बुरे विषय को) प्राप्त (प्राप्य करके) न (नहीं) अभिनन्दति (आनन्दित होता) न (नहीं) द्वेष्टि (द्वेष करता) तस्य (उसका) प्रज्ञा (ज्ञान) प्रतिष्ठिता (प्रतिष्ठित हुआ है)।

"जो व्यक्ति सभी विषयों में आसक्ति से रहित है, जो अच्छा या बुरा कुछ भी प्राप्त होने पर न तो आनन्दित होता है, न विरक्ति का बोध करता है, उसका ज्ञान प्रतिष्ठित हुआ है अर्थात् वही स्थितप्रज्ञ है।"

[जैसे] कूर्मः (कछुआ) अंगानि (अपने अंग) [संहरते (सिकोड़ लेता है)] [उसी] इव (प्रकार) यदा (जब) अय (यह) [योगी] च (भी) इन्द्रियाणि (इन्द्रियों को) इन्द्रियार्थेभ्यः (इन्द्रियों के विषयों से) सर्वशः (पूरी तरह) संहरते (समेट लेता है) [तब] तस्य (उसका) प्रज्ञा (ज्ञान) प्रतिष्ठिता (प्रतिष्ठित है)।

"जैसे कछुआ अपने अंगों को भीतर सिकोड़ लेता है, वैसे ही जो अपनी समस्त इन्द्रियों को इन्द्रिय-विषयों से खींचकर भीतर समेट लेता है, उसकी प्रज्ञा प्रतिष्ठित है।"

छप्पनवें श्लोक में स्थिरबुद्धि होने का उपाय

सुख-दुःख से उपरामता को प्राप्त होना बताया है। स्थितप्रज्ञ बाहर से कैसा दिखता है ?—दुःख आने पर न तो वह विचलित होता दिखायी देता है, न सुख आने पर उसके प्रति स्पृहावान्। स्थिरबुद्धि सन्तों के जीवन में दुःख नहीं आता ऐसी बात नहीं। अनेकों के मन में यह गलत धारणा रहती है कि महात्माओं पर दुःख का आक्रमण नहीं होता। वस्तुतः दुःख जैसे संसारी व्यक्ति के जीवन में आते हैं, उसी प्रकार स्थितप्रज्ञ व्यक्ति के भी, पर स्थितप्रज्ञ इन दुःखों से उद्विग्न नहीं होता। वह ईश्वर को दोष देते हुए ऐसा नहीं कहता कि मैं जब तुम्हारी इतनी उपासना करता हूँ, तो दुःख क्यों ला दिये ? वह दुःखों को दूर करने की भी प्रार्थना ईश्वर से नहीं करता। वह तो प्रारब्ध समझकर दुःखों का भोग अविचलित बुद्धि से करता है। इसी प्रकार, सुख के प्रति उसके मन में लालसा नहीं होती कि यह सुख मुझे मिलना चाहिए अथवा यह कि यह सुख मुझे छोड़कर न जाय। वह सुख को पकड़कर रखना नहीं चाहता।

ज्ञानी के लिए सुख-दुःख विवर्त हैं। उसके लिए अपना आत्मस्वरूप ही सत्य है, बाकी सब मिथ्या। सुख-दुःख उसके लिए अज्ञान का ही पर्याय हैं। योगी के लिए सुख-दुःख प्रकृति के परिणाम हैं। प्रकृति त्रिगुणात्मिका है। उसमें कभी सत्त्वगुण की प्रधानता होती है, तो कभी रजोगुण की और कभी तमोगुण

की। सत्त्वगुण के प्रधान होने पर चित्त में सुख का स्फुरण होता है और जब रजोगुण प्रधान होता है, तो दुःख आता है। तमोगुण की प्रधानता मोह और आलस्य को जन्म देती है। इस तरह योगी सुख-दुःख को प्रकृति के कार्य मानता है तथा 'गुणा गुणेषु वर्तन्त इति मत्वा न सज्जते' (गीता, ३।२८)—गुण ही गुणों में बरत रहे हैं ऐसा समझकर सुखों के प्रति न तो आसक्त होता है, न दुःखों से खिन्नता का बोध करता है। कर्मी सुख-दुःख को प्रारब्ध का फल मानकर अविचलित बुद्धि से उनका भोग करता है। भक्त सुख-दुःख को ईश्वर का अनुग्रह मानता है। उसके लिए यदि सुख प्रभु की कृपा है, तो दुःख भी। वह मानता है कि मुझे शुद्ध करने के लिए, मेरा विश्वास बढ़ाने के लिए प्रभु मेरे जीवन में दुःख भेजते हैं। तो, इनमें से जो भी दृष्टि रखी जाय, उसके फलस्वरूप सुख-दुःख हमें प्रभावित नहीं कर पाते।

'वीतरागभयक्रोधः' के द्वारा वह सूत्र बताया गया, जिससे दुःख का उद्वेग और सुख की स्पृहा मिटायी जा सकती है। कह तो दिया कि दुःखों में उद्विग्न मत होओ और सुखों में स्पृहावान् मत बनो। पर यह सधे कैसे?—आसक्ति, भय और क्रोध के त्याग से। आसक्ति छोड़ोगे तो सुख की स्पृहा मिटेगी और भय और क्रोध छोड़ोगे तो दुःख का उद्वेग दूर

होगा। सुख के साथ आसक्ति चलती है और दु:ख के साथ भय और क्रोध चलता है। इसलिए आसक्ति, भय और क्रोध का त्याग कर उद्वेग और स्पृहा से मुक्त हो जाओ। यही स्थितप्रज्ञ मुनि के लक्षण हैं।

अब सत्तावनवें श्लोक में यह बताया गया कि आसक्ति, भय और क्रोध की भावना को कैसे दूर किया जाय। उपाय है बुद्धि का समत्व। समता की कसौटी है 'सर्वत्र अनभिस्नेह:'--कहीं पर आसक्त न होना, किसी वस्तु या व्यक्तिविशेष में मन को चिपकने न देना। ऐसा व्यक्ति ही यथार्थ में उदासीन होता है। जो कहीं पर आसक्त है, वह पक्षपात कर सकता है, पर स्थितप्रज्ञ निष्पक्ष होता है। जीवन में शुभ या अशुभ कुछ भी आये, न तो वह शुभ का अभिनन्दन करता है, न अशुभ का द्वेष। सम्मान मिलने से न तो फूलता है, न अपमान मिलने से संकुचित होता है। ऐसी स्थितप्रज्ञता बुद्धि के समत्व से प्राप्त होती है।

उपर्युक्त दो श्लोकों में अन्तर यह है कि छप्पनवें श्लोक में सुख-दु:ख के प्रति स्पृहा और उद्वेग से मुक्ति पर जोर दिया गया, जबकि सत्तावनवें श्लोक में शुभ-अशुभ कुछ भी प्राप्त होने पर बुद्धि के समत्व पर। वैसे शुभ-अशुभ ही सुख और दु:ख को जन्म देते हैं--शुभ-अशुभ कारण हैं और सुख-दु:ख कार्य। एक में कार्य के प्रति लगाव-विरक्ति से दूर

रहने का उपदेश दिया गया, तो दूसरे में कारण से उदासीन रहने की सीख दी गयी। इसे यों समझें—कोई हमें मानपत्र देना चाहता है। मानपत्र मिलने की बात जब मुझे मालूम पड़ी, तो वह मेरे लिए शुभ कर्म है। उस समय मुझे सुख का अनुभव तो होता है, पर सुख साकार तब होता है, जिस क्षण मुझे मानपत्र देने की क्रिया सम्पन्न होती है। जिस समय मुझे विदित हुआ कि मुझे मानपत्र दिया जायगा, उस समय यदि मैंने अपनी वृत्ति उदासीन रखी, तो बाद में मानपत्र दिये जाने के काल में जिस सुख की अनुभूति होगी, उसके प्रति मेरी कोई स्पृहा नहीं रहेगी। यदि बीच में किसी कारणवश मानपत्र मुझे नहीं मिला, तो मुझे दुःख नहीं होगा। पर यदि 'मानपत्र' मिलेगा' यह सुनने के काल में मैं उदासीन न रहूँ और उसके सुखरूप रस का स्वाद लूं, तो मानपत्र नहीं मिलने पर मुझे दुःख का भोग करना पड़ेगा। अतएव, छप्पनवें श्लोक में कहा कि सुख-दुःख में स्पृहा या विरक्ति का अनुभव न करो और सत्तावनवें में यह बताया कि शुभ और अशुभ के प्रति ही तुम उदासीन हो जाओ, जिससे शुभ के प्रति अभिनन्दन और अशुभ के प्रति द्वेष की बुद्धि समाप्त हो जाय।

अब अट्ठावनवें श्लोक में बताते हैं कि इस शुभ और अशुभ की भी मार से कैसे बचा जाय। कहा

गया---इन्द्रिय-भोगों से उपरामता के द्वारा। इसका सर्वश्रेष्ठ उदाहरण है कछुए का अपने अंगों को सिकोड़ लेना। आप कछुए को छू दें या डंडा मारें, तो वह भागेगा नहीं, आप पर आक्रमण भी नहीं करेगा, वरन् अपने मुंह-पैर आदि सब अंगों को समेटकर बैठ जायगा। उसी प्रकार जो व्यक्ति इन्द्रियों के शुभ या अशुभ विषय पाते ही अपनी इन्द्रियों को तुरन्त उन विषयों से समेट लेता, है, उसकी प्रज्ञा प्रतिष्ठित है। शुभ और अशुभ की मार से बचने का एकमात्र यही उपाय है। यदि कोई व्यक्ति सोचे कि वह मन-इन्द्रियों के द्वारा विषयों का सामना करके विषयों को पराजित कर देगा, वह नासमझ है। या यदि सोचे कि मन और इन्द्रियों को उनके विषयों में जाने दो न, क्या हर्ज है, कोई हानि दिखते ही मैं उन्हें समेट लूंगा, तो उसके समान निर्बुद्धि कोई नहीं। चतुराई इसी में है कि सामना न किया जाय और मन-इन्द्रियों को कछुए के अंगों के समान समेट लिया जाय।

यहाँ 'सर्वश:' शब्द से यह सूचित किया कि सभी इन्द्रियों को एक साथ पूरी तरह समेट लेना होगा। यह नहीं कि एक एक करके इन्द्रियों को समेटना होगा, उससे काम नहीं बनने का। जब तक समस्त इन्द्रियों पर एक साथ निग्रह नहीं किया जाता, तब तक बुद्धि की स्थिरता नहीं प्राप्त होती।

इस श्लोक में अर्जुन के उस प्रश्न का भी उत्तर

दे दिया गया, जिसमें उसने पूछा था कि स्थितप्रज्ञ 'किमासीत' --कैसे बैठता है। स्थितप्रज्ञ कछुए के समान बैठता है, व्यवहार करता है।

किसी किसी व्याख्याकार ने इसे साधन-अवस्था माना है और किसी ने सिद्धि-अवस्था। हम इसे दोनों ही अवस्थाओं का प्रतीक मान सकते हैं--जब हम प्रयत्नपूर्वक अपनी इन्द्रियों को उनके विषयों से कछुए के समान समेट लेते हैं, तो वह साधन-अवस्था है और जब विषयों को देखते ही इन्द्रियाँ सहज रूप से अपने आपको समेट लेती हैं, तो वह सिद्धि-अवस्था है। स्थितप्रज्ञता से सिद्धि की अवस्था का ही बोध होता है।

अब प्रश्न उठता है कि क्या मन और इन्द्रियों को विषयों से समेट लेने मात्र से स्थितप्रज्ञता और समाधि की स्थिति प्राप्त हो जाती है? इसका उत्तर अगले श्लोक में दिया गया है।

•

विविध समाचार

श्रीरामकृष्ण सेवा मंडल, भिलाईनगर--

यह एक सार्वजनिक रजिस्टर्ड सोसायटी है, जो भिलाई इस्पात नगर के सेक्टर ७ में सड़क न. ५ पर स्थित है। रामकृष्ण मठ और रामकृष्ण मिशन के अध्यक्ष पूज्यपाद स्वामी वीरेश्वरानन्दजी महाराज ने ९ नवम्बर १९६९ को भिलाई के आश्रम-भवन का शिलान्यास किया था। तब से यह सेवा मंडल' अपने सेवा-कार्यों में सतत आगे बढ़ता जा रहा

है। उसके दो भवन पूरे हो गये हैं। एक में उपासना-गृह, सभा-कक्ष तथा कार्यालय है तथा दूसरे में धर्मार्थ औषधालय एवं निवास-कक्ष हैं। विगत २६ मार्च को अध्यक्ष महाराज ने वहाँ अनुमानित ७ लाख रु. की लागत से निर्मित होनेवाले सभाभवन एवं श्रीरामकृष्ण मन्दिर का शिलान्यास किया है। इस अवसर पर रामकृष्ण संघ के अनेक वरिष्ठ संन्यासी तथा बहुत से गण्यमान्य लोग उपस्थित थे।

श्री रामकृष्ण आश्रम, इन्दौर--

मध्यभारत के क्षेत्र में बरसों से कार्यरत इस सार्वजनिक रजिस्टर्ड संस्था के लिए १८ अप्रैल, १९७९ परम प्रसन्नता का दिन था, जब उसके नवनिर्मित मन्दिर में रामकृष्ण संघ के अध्यक्ष पूज्यपाद स्वामी वीरेश्वरानन्दजी महाराज ने भगवान् श्रीरामकृष्ण देव, श्री माँ सारदा देवी तथा स्वामी विवेकानन्दजी के पटों को विधिवत् स्थापित किया। रामकृष्ण संघ के अनेक वरिष्ठ संन्यासियों एवं भक्तों की उपस्थिति में यह समारोह सम्पन्न हुआ।

श्री रामकृष्ण कुटीर, अमरकंटक--

नर्मदा मैया के पावन उद्गम-स्थल अमरकंटक में विगत वैशाख पूर्णिमा (बुद्ध पूर्णिमा) तदनुसार १२ मई १९७९ को यह आश्रम उद्घाटित हुआ। यह एक सार्वजनिक रजिस्टर्ड ट्रस्ट है। इसके नवनिर्मित मन्दिर में रामकृष्ण संघ के उपाध्यक्ष पूज्यपाद स्वामी गम्भीरानन्दजी महाराज ने भगवान् श्रीरामकृष्ण देव, श्री माँ सारदा देवी तथा स्वामी विवेकानन्दजी के पटों की विधिवत् स्थापना की। मध्यप्रदेश के राज्यपाल श्री सी. एम. पूनाचा ने इस नवीन आश्रम का उद्घाटन तथा 'आश्रम प्रतिष्ठापन स्मारिका' का विमोचन किया। केन्द्रीय पर्यटन एवं नागरिक विमानन मंत्री श्री पी

एल. कौशिक ने इस आश्रम उद्घाटन सभा की अध्यक्षता करते हुए आश्रम के धर्मार्थ होमियोपैथिक औषधालय का उद्घाटन किया। इस अवसर पर रामकृष्ण 'संघ के अनेक संन्यासी तथा बाहर से आये हुए बहुत से भक्त एवं गण्यमान्य लोग उपस्थित थे।

•

पुस्तक-समीक्षा

साहित्य वीथी

पुस्तक का नाम : तैत्तिरीयोपनिषद्-भाष्य-वार्तिक
मूल लेखक : श्री सुरेश्वराचार्य
हिन्दी अनुवादक : श्री राधेश्याम शास्त्री
प्रकाशक : मेहरचन्द लछमनदास पब्लिकेशन्स, १ अंसारी रोड, दरियागंज, नई दिल्ली-२
पृष्ठ संख्या : २३१ + बीस, मूल्य सजिल्द-२०), अजिल्द-१२)

तैत्तिरीय उपनिषद् यजुर्वेद के अन्तर्गत आता है। हिन्दू धर्म की दिव्य परम्परा में यजुर्वेद का स्थान अद्वितीय है, क्योंकि इसमें अध्वर्यु के लिए यज्ञ-याग-उपासनादि के निमित्त उचित संहिताओं का निर्देश है। यजुर्वेद की तैत्तिरीयक एवं वाजसनेयी इन दो शाखाओं में प्रथम के अन्तर्गत जो आरण्यक है, उसके ७ वें, ८ वें और ९ वें प्रपाठक (अध्याय) के रूप में हमें शीक्षावल्ली, ब्रह्मानन्दवल्ली और भृगुवल्ली ऐसी तीन वल्लियाँ प्राप्त होती हैं, जो मिलकर तैत्तिरीय उपनिषद् का निर्माण करती हैं। इस उपनिषद् का प्रधान प्रतिपाद्य ब्रह्मज्ञान है। इसकी वर्णन-शैली बड़ी ही उदात्त और शृंखलाबद्ध है यह बहुत सम्भव है कि इसी उपनिषद् ने श्री शंकराचार्य का ध्यान भाष्य हेतु अपनी ओर सबसे पहले आकर्षित किया हो

इसकी प्रामाणिकता इसी से स्पष्ट है कि उन्होंने अपने ब्रह्मसूत्र-भाष्य में १४७ बार इस उपनिषद् का हवाला दिया है। उनके अनुवर्ती आचार्यों में सुरेश्वर, आनन्दगिरि और अच्युत कृष्णानन्द ने इस उपनिषद् के शांकर-भाष्य पर वार्तिक और टीकाएँ लिखी हैं तथा शंकरानन्द, सायण आदि ने उपनिषद् पर व्याख्याएँ।

समीक्ष्य ग्रन्थ सुरेश्वराचार्य द्वारा लिखे गये ऐसे वार्तिक का हिन्दी रूपान्तर है। वार्तिक उस व्याख्या-ग्रन्थ को कहते हैं, जिसमें मूल कृति के उक्त, अनुक्त और दुरुक्त अर्थ की विवेचना होती है। सुरेश्वराचार्य अद्वैत सम्प्रदाय के धुरन्धर पण्डित थे और आचार्य शंकर के बाद उनकी प्रामाणिकता ही स्वीकार की जाती है। ऐसी प्रामाणिकता के कारण उन्हें 'वार्तिककार' के सम्बोधन से सम्मानित किया जाता है। हिन्दी रूपान्तरकार श्री राधेश्याम शास्त्री ने बड़े परिश्रम और निष्ठा के साथ यह अनुवाद-कार्य सम्पन्न किया है। उनकी भाषा प्रांजल है और उन्होंने वार्तिक के दुरूह और असंगत लगनेवाले अंशों पर टिप्पणियों के माध्यम से अच्छा प्रकाश डाला है। अँगरेजी और बँगला में इस वार्तिक का अनुवाद और टीकाएँ देखने का सुयोग तो मुझे लगा है, पर हिन्दी में अभी तक ऐसा कोई अनुवाद देखने में नहीं आया था। शास्त्रीजी ने मूल के साथ यह सुन्दर अनुवाद प्रकाशित कर हिन्दी-भाषियों पर बड़ा उपकार किया है, जिसके लिए वे बधाई के पात्र हैं। उन्होंने 'पाठभेदविषयक विचार' और वार्तिक के श्लोकों की अनुक्रमणिका जोड़कर ग्रन्थ की उपयोगिता में चार चाँद लगा दिये हैं।

सामान्यत: ऐसे संस्कृत ग्रन्थों की छपाई की ओर विशेष ध्यान नहीं दिया जाता, पर यह प्रकाशन इसका सर्वथा अपवाद है। इसकी छपाई, गेट-अप, प्रूफ-पठन सभी उत्कृष्ट दर्जे के हैं।

—स्वामी आत्मानन्द